॥(—)

श्राद्ध : क्या, क्यों, कैसे ?

प्रवचन
पूज्यपाद ब्रह्मनिष्ठ वेददर्शनाचार्य
महामण्डलेश्वर १०८ सद्गुरू
स्वामी गंगेश्वरानंदजी महाराज उदासीन

सम्पादक
स्वामी गोविंदानंद वेदांताचार्य

प्रकाशक
खण्डेलवाल प्रेस ऐण्ड पब्लिकेशन
मानमंदिर–वाराणसी

श्राद्ध : क्या, क्यों, कैसे ?

प्रवचन

पूज्यपाद ब्रह्मनिष्ठ वेददर्शनाचार्य
महामण्डलेश्वर १०८ सद्गुरू
स्वामी गंगेश्वरानंदजी महाराज उदासीन

सम्पादक

स्वामी गोविंदानंद वेदांताचार्य

प्रकाशक
खण्डेलवाल प्रेस एण्ड पब्लिकेशन
मानमंदिर–वाराणसी

मुद्रक एवं प्रकाशक :
खण्डेलवाल प्रेस ऐण्ड पब्लिकेशन
मानमन्दिर, वाराणसी-२२१००१

•

प्राप्तिस्थान :
सर्वश्री छोटेलाल ओंकारनाथ
D. २९, कमला नगर, आगरा
तथा
प्रेमतला, सिलचर (असम)

•

मूल्य : ६.००

श्राद्ध : क्या, क्यों, कैसे ?

यज्ञ, दान और तप की आधारशिला पर खड़ी भारतीय संस्कृति विश्व में अद्वितीय है। उसकी आश्रम और वर्ण की व्यवस्था अपने ढंग की अनोखी है। गृहस्थ आश्रम ही ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का आधार माना गया है। गृहस्थ को अपने दैनन्दिन जीवन में अनेक कार्य करने पड़ते हैं। घर है तो घर में खाना बनाने के लिए चूल्हा, आटा पीसने के लिए चक्की, धान कूटने के लिए ओखली, पीने के लिए जल का घड़ा और सफाई के लिए झाड़ू रखनी ही पड़ती है। इन पाँचों स्थानों पर नित्य ही कुछ न कुछ जीवजन्तुओं की हत्या होती रहती है। अहिंसा को जीवन का सर्वश्रेष्ठ मूल्य माननेवाले भारतीय ऋषियों ने सोचा कि गृहस्थ इन पंचपापों से कैसे मुक्त हो ? उसके लिए उन्होंने पंचमहायज्ञ का विधान किया। मनुस्मृति में कहा है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ (३।७०)

१. अध्ययन-अध्यापन है **ब्रह्म यज्ञ**।

२. अन्न जल द्वारा नित्य नैमित्तिक पितरों का तर्पण है **पितृ यज्ञ**।

३. देवताओं के लिए किये जानेवाला नित्य होम है **देव यज्ञ**।

४. गाय, कुत्ता, कौआ आदि पशुपक्षियों को अन्नदान आदि है **भूत यज्ञ**।

५. घर पर पधारनेवाले अतिथियों का सत्कार है **मनुष्य यज्ञ**।

पंचसूना-दोष के परिहार के लिए प्रत्येक गृहस्थ नित्य इन पाँचों यज्ञों को करे।

मानव जीवन पर ऋषियों, देवों, पितरों और मनुष्यों तथा पशुपक्षी आदि

असंख्य प्राणियों का अपार उपकार है। इस उपकार के परिशोधन के लिए यज्ञ, दान, तप की उज्ज्वल व्यवस्था की गयी है।

दैनिक पितृ यज्ञ के अतिरिक्त पितरों के निमित्त आश्विन के कृष्णपक्ष में पितृश्राद्ध का विशेष विधान है। यह श्राद्ध पितरों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन का एक अनुपम साधन है।

श्राद्ध की सार्थकता इसी में है कि वह श्रद्धापूर्वक विधिवत् किया जाय। 'श्राद्ध' का अर्थ ही है देशकाल और पात्र को देखकर यथाविधि श्रद्धा के साथ पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को अन्नदान आदि देना—

देशेकाले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्।
पितनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्रद्धामुदाहृतम्॥

श्राद्ध के ४ अंग माने गये हैं—

होम, पिण्डदान, तर्पण और ब्राह्मण-भोजन। अग्नि में होम किया जाता है, दर्भ पर पिण्डदान करते हैं। तिल और जल से तर्पण किया जाता है और श्रद्धापूर्वक अपनी सामर्थ्य के अनुसार पावस आदि से ब्राह्मण-भोजन कराया जाता है।

वेद-स्मृति-शास्त्र आदि में पितृयज्ञ का जो वर्णन मिलता है, उससे स्पष्ट है कि श्रद्धा और विधिपूर्वक किये गये श्राद्ध द्वारा पितर तृप्त होते हैं और हम पर अपने आशीर्वाद की वर्षा करते हैं।

यह पितृयज्ञ कितना व्यापक और विश्वात्म की भावना से ओतप्रोत है, उसका अनुमान उन मंत्रों से ही किया जा सकता है जो इस अवसर पर प्रयुक्त किये जाते हैं। यथा,

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षि पितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमाता महादयः॥

अतीत कुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम् ।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम् ॥

'ब्रह्म से लेकर अत्यन्त क्षुद्र कीट स्तम्ब तक देवता, ऋषि, पितर, दिवंगत पुरुष—मेरे माता-पिता, पितामह, मातामहादि सभी मेरे द्वारा दिये जानेवाले इस तिल और जल से तृप्त हो जायँ। इतना ही नहीं, सातों द्वीपों में निवास करनेवाले हमारे पूर्वजन्मों के कुलों के माता-पिता-बन्धु आदि भी इस तिल-जल से तृप्त हो जायँ। उनकी आत्मा को भी इससे शांति प्राप्त हो।'

ऐसी पावन और उदात्त भावना से किया गया श्राद्ध श्राद्धकर्ता को अपने आशीर्वाद से अवश्य ही लाभान्वित किये बिना न रहेगा।

खेद है कि इधर बहुत दिनों से आधुनिक शिक्षित समुदाय की आस्था बहुत कुछ घट गयी है। इसका कारण है भौतिक और विलासमय जीवन की ओर झुकाव। आज के नवशिक्षित समुदाय में श्राद्ध जैसे प्राचीन मूल्यों का आदर उठता-सा प्रतीत होता है। उनमें से अनेक व्यक्ति खुल्लमखुल्ला ऐसी बातों की खिल्ली उड़ाते हैं। कुछ लोग यह भी कह देते हैं कि हम तो विज्ञान और तर्क की कसौटी पर कस करके ही किसी बात को स्वीकार करेंगे।

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वेद-दर्शनाचार्य महामंडलेश्वर श्री १०८ स्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज उदासीन ने सन् १९३९ में १८ से २५ अक्तूबर तक अहमदाबाद में 'श्राद्ध' के विषय पर एक अत्यन्त सारगर्भित प्रवचन-माला द्वारा ऐसे शंकालु सज्जनों की शंकाओं का निर्मूलन किया था—प्रस्तुत पुस्तक में वे ही अमूल्य प्रवचन सर्वसाधारण को सुलभ किये जा रहे हैं। इसमें श्राद्ध का शास्त्रीय विवेचन भी है, वैज्ञानिक भी।

श्राद्ध क्या है, क्यों करना चाहिए, कैसे करना चाहिए, श्राद्ध पितरों को कैसे पहुँचता है, उससे क्या लाभ होता है, आश्विन कृष्णपक्ष में ही महालय का विधान क्यों है, श्राद्ध का शास्त्रीय-आधार क्या है, विज्ञान की कसौटी पर

कसने से क्या सिद्ध होता है—इन सब बातों का परम विद्वान स्वामीजी महाराज ने अपनी ओजस्विनी और लोकप्रिय शैली में विस्तार से विवेचन किया है।

इस प्रवचन-माला के लिए हम स्वामीजी महाराज के परम आभारी हैं। हमारा विश्वास है, कि इसके अध्ययन और मनन से हमारा नवशिक्षित समुदाय पूरा लाभ उठाकर पितरों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए कृतसंकल्प हो उठेगा।

शुभं भूयात्।

श्रीकृष्णदत्त भट्ट

जन-साहित्य मन्दिर
बौलियाबाग, रामकटोरा,
वाराणसी-२२१००२

दो शब्द

श्राद्ध के विषय में आस्तिक लोगों के मन में भी कई प्रकार की शंकाएँ हैं। मरण के बाद जीव की स्थिति और गति कैसी होती है? शास्त्र के अनुसार जीव को कर्मानुगुण गति प्राप्त होती है। वह स्वर्ग या नरक में पहुँचता है। न जाने कब तक परलोक में उसे कर्म का फल भोगना पड़ता है। इसके बाद फिर वह जन्म लेता है—'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति।' यह भी संभव है कि कोई साधक जीव जन्म-मरण के इस चक्र से मुक्त ही हो गया। 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।' 'इमं मानुषमावर्तं नावर्तन्ते।' ऐसे जीवों के लिए मरणोपरांत श्राद्ध करने से कौन-सा लाभ पहुँच सकता है और कैसे? वाल्मीकि रामायण में महर्षि जाबालि का यह वचन है—

'अष्टका पितृ दैवत्यमित्ययं
प्रसृतो जनः। अन्नस्योपद्रवं
पश्य, मृतो हि किमशिष्यति?'

ऐसी शंकाओं का समाधान न होने पर आस्तिकों की भी श्रद्धा डगमगाने लगती है।

हमारे महर्षियों ने ऐसी शंकाओं का डटकर समाधान प्रस्तुत किया है। वेद, स्मृति आदि के आधार पर इस विषय का अत्यन्त मार्मिक विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है। यह तो उदासीन संप्रदाय के अनन्त श्री विभूषित परम-पूज्य आचार्य श्री गंगेश्वरानंदजी महाराज की प्रवचन-माला का ग्रंथात्मक संस्करण है। श्री गंगेश्वरानंदजी की विद्वत्ता, प्रामाणिकता, विश्वासनीयता और शास्त्रानुसारी निष्पक्षता विश्वविख्यात है। इस विषय में मेरा कुछ कहना तो सूर्य को दीपक दिखाने का दुःसाहस ही होगा। पूज्य स्वामीजी ने वेद आदि

प्रमाणों का प्रदर्शन करते हुए सरल हिंदी में विषय का शास्त्रीय, गंभीर और साथ ही सुगम विवेचन किया है। करोड़ों आस्तिकों की जिज्ञासा का इस लघुकाय ग्रंथ में प्रामाणिक समाधान प्राप्त है। मेरी आशा और विश्वास है कि हमारा आस्तिक समाज इस ग्रथ का अध्ययन करके लाभ उठायेगा। अत्याधुनिक युग के युवा वर्ग के लिए भी इस ग्रन्थ में उपयोगी सामग्री विद्यमान है। श्राद्ध कोई अंधविश्वास नहीं है; उसका वैज्ञानिक आधार है, पृष्ठभूमि है। हमारे युवकों को-विद्यार्थियों को—इस ग्रन्थ के पठन से नवीन ज्ञान मिलेगा।

सारे विश्व में जहाँ हिन्दू रहते हैं, वहाँ इस ग्रन्थ का प्रचार होना चाहिए। अन्य भाषाओं में भी इसका अनुवाद करना उत्तम होगा।

महाशिवरात्रि
११-२-८३

वि० कृष्णस्वामी अय्यंगार
प्रोफेसर, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा



पूज्यपाद ब्रह्मनिष्ठ वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर १०८ सद्गुरू
स्वामी गंगेश्वरानंदजी महाराज उदासीन



१

श्राद्ध : पितरों के प्रति कृतज्ञता-प्रदर्शन

सज्जनो,

आपको उपनिषद् की कथा सुनायी जा रही थी। मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य का संवाद चल रहा था। उस प्रसंग में कहा गया है कि मोक्ष का साधन तो ज्ञान ही है, कर्म नहीं। कर्म के विवेचन में यह बताया गया कि कर्म का फल उसी को मिलता है जो उसे करता है। कर्म करनेवाला अधिक-से-अधिक स्वर्ग जा सकता है और इहलोक के फल भोग सकता है। अब आप पूछ बैठेंगे कि जब कर्म का फल कर्ता को ही है तो फिर पुत्र के श्राद्ध से पिता को तृप्तिरूप फल कैसे मिलता है ? फिर श्राद्ध करते ही क्यों हैं ?

चलिये, अब इसी विषय पर कुछ विवेचन कर लिया जाय। शीघ्र ही पितृपक्ष भी आरंभ होने जा रहा है। निश्चय ही ये बातें समझने योग्य हैं कि अन्य को प्रदत्त वस्तु अन्य को कैसे मिल पाती है। पुत्र द्वारा ब्राह्मण को दिया गया श्राद्धीय अन्नादि द्रव्य मृत पितरों तक कैसे पहुँचता है ? मानव के जीवन में पितरों का क्या स्थान है ? श्राद्ध क्या है ? क्या वेदों में श्राद्ध का वर्णन आता है ? आश्विन के कृष्ण पक्ष में ही श्राद्ध क्यों ? श्राद्ध करने से क्या लाभ और न करने से क्या हानि है ? शक्ति ही न हो तो श्राद्ध कृत्य कैसे करें ? यथावसर इन्हीं बातों पर प्रकाश डाला जायगा।

हाँ, तो आज पहले यही विचार किया जाय कि क्या अन्य के किये कर्म का फल अन्य को मिल सकता है ? इस सम्बन्ध में सामान्य नियम तो यह है कि 'जो करेगा वही भरेगा।' अर्थात् प्राणी जैसे शुभाशुभ कर्म करेगा वैसे

ही उनका शुभाशुभ फल पाएगा। अन्य को किसी अन्य के किये कर्म का फल मिलना अति कठिन है। जैसे कोई किसी की हत्या का अपराध करता है तो उसी को प्राण-दण्ड, फाँसी की सजा दी जाती है, दूसरे को नहीं। यह शंका अवश्य उठ सकती है कि फिर तो मृत पितरों के निमित्त किया जानेवाला श्राद्धकर्म व्यर्थ ही हो जायगा ? श्राद्ध के दिनों में लोग अपने मृत माता-पिता, पितामह आदि को अन्न पहुँचाने के लिये ही तो श्राद्ध करते हैं। पर हमारे किये श्राद्ध का अन्न-जल हमारे पितरों को कैसे मिलेगा, क्योंकि श्राद्ध करनेवाले तो हम हैं, हमारे पितर नहीं।

पर ऐसी बात नहीं है। 'जो कर्ता है, वही भोक्ता भी होता है,' यह नियम औत्सर्गिक है, अपवादयुक्त है। यह सर्वत्र लागू करने योग्य नियम नहीं, यह प्रायोवाद है। यदि इसे अकाट्य नियम मान लें तो सेठ-साहूकारों पर बड़ी विपद आ जायगी। कारण, फिर तो अपने पिता के मरने के बाद वे उनकी सम्पत्ति के मालिक भी न बन पायेंगे। रुपया तो उनका अपना नहीं, पिता का कमाया होता है। पर देखा यही जाता है कि पिता के मरने के बाद तुरन्त लोग बैंकों के मैनेजरों के नाकों दम कर डालते हैं कि लाओ हमारा रुपया !

इस तरह जब पिता का कमाया धन पुत्र को मिल जाता है तो पुत्र का दिया अन्न-जल पिता को क्यों नहीं मिलेगा ? अतः स्पष्ट है कि यह नियम कहीं-कहीं लागू होता है, सर्वत्र नहीं।

वास्तव में समझने की बात यह है कि रसोई तो बनाता है पाचक, पर पहले खाते हैं हम। बाद में यदि हमारे यहाँ कोई अतिथि आ जाता है तो उसके लिए भी पाचक रसोई बनाता है। उस समय न हम खाते हैं और न पाचक ही, जो उसके निर्माता और स्वामी हैं। खाता है अतिथि। ठीक इसी प्रकार पुरुष अपनी पत्नी या पुत्रादि के नाम बीमा करता है और उसकी पालिसी का रुपया स्वयं भरता है, पर वह मिलता है पत्नी या पुत्रादि को, जिसके नाम वह पालिसी होती है, बीमा होता है। इसलिए व्यापक नियम 'जो करता है वह भरता है' यह न होकर यही है कि 'जिसके उद्देश्य से (जिसके लिये) जो कर्म किया जाता है उसका फल उसे ही मिलता है।' सच तो यह है कि श्राद्ध ही उन्हें अपने पिता की सम्पत्ति का अधिकारी सिद्ध करता है। दायभाग के विद्वान् जानते हैं कि जो दाह करता है वही मृतक के धन का अधिकारी होता है। पिता की सम्पत्ति इसीलिए पुत्र को मिलती

है कि वह उनके उद्धारार्थ श्राद्धादि कर्म करता है। इसके अतिरिक्त पिता की सम्पत्ति पाने का पुत्र के पास कोई भी निर्दिष्ट प्रमाण नहीं।

यदि कोई कहे कि पुत्र माता-पिता से जन्मा है इसलिये उसकी सम्पत्ति का अधिकारी है तो यह भी बात कुछ अर्थ नहीं रखती। पिता के शरीर से तो जुएँ भी जनमती हैं और वह भी साक्षात् उन्हीं के पसीने से, उन्हीं के शरीर में। पर क्या वे आपके साथ हिस्सा बँटाने का दावा कर सकती हैं! फिर आप ही पिता की सम्पत्ति पर क्यों दावा करते हैं? यहाँ शंका करनेवालों की बोलती बन्द हो जायगी।

पितर आते हैं तो दीखते क्यों नहीं?

बहुत से लोग यह भी शंका करते हैं कि पितरों को हमने श्राद्ध में आते देखा नहीं, फिर कैसे मानें कि श्राद्ध में वे आते हैं? पर ऐसे शंकाशील लोगों से पूछा जाय कि क्या तुमने ईश्वर को भी कभी देखा है? हम तो समझते हैं कि ईश्वर को कोई प्रत्यक्ष नहीं देखता। फिर भी ईश्वर की प्रार्थना क्या ईसाई, क्या मुसलमान और क्या हिन्दू, संसार के सभी मनुष्य करते हैं और उसकी सत्ता मानते हैं। इस पर यदि शंकावादी यह कहे कि ईश्वर की सत्ता में शास्त्र-वचन ही प्रमाण हैं तो पूछा जा सकता है कि क्या पितरों के लिए शास्त्रों में प्रमाण नहीं हैं? वास्तव में शास्त्र ही तो श्राद्ध-विधान और पितरों का आगमन बतलाते हैं। इस सम्बन्ध में यह आपस्तम्बीय मनु-सम्मत वचन बड़े महत्त्व का है :

अथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच—

'...प्रजानिःश्रेयसार्थं तत्र पितरो देवता ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे मासि मासि कार्यमपरपक्षस्यापराह्णः श्रेयान्।'

'वेदार्थतत्त्वज्ञ महाराज मनु ने बताया है कि जैसे देवयज्ञ में इन्द्रादि देवताओं की पूजा की जाती है और उस पूजा का आधार होता है आहवनीय अग्नि अर्थात् अग्नि में होम करने पर देवता पूजित हो प्रसन्न होते हैं, वैसे ही पितृयज्ञ में पूजनीय देवता हैं पितर और उनकी तृप्ति के लिए होमाधार अग्नि के स्थान पर है ब्राह्मण का मुख। ब्राह्मण को खिलाने से पितर पूजित हो प्रसन्न होते हैं। यह पितृयज्ञ-कर्म प्रतिमास करना चाहिए, जिसमें कृष्णपक्ष का अपराह्ण काल इस क्रिया के अनुष्ठान के लिए सर्वथा श्रेष्ठ है।'

कोशकार स्पष्ट कहता है कि 'श्राद्धं तत्कर्म शास्त्रतः' अर्थात् शास्त्र के अनुसार पितरों का पूजन कर्म ही 'श्राद्ध' कहलाता है।

ब्रह्मपुराण में भी कहा है :

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत् ।
पितनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम् ॥

अर्थात् देश, काल और पात्र को देखकर यथाविधि श्रद्धा के साथ पितरों के निमित्त जो कुछ ब्राह्मणों को दिया जाय वह श्राद्ध कहलाता है ।

ज्ञातव्य है कि जैसे परमात्मा की सृष्टि में देवलोक आदि लोक हैं और उनके अधिष्ठाता इन्द्र आदि देव माने जाते हैं, वैसे ही 'दक्षिणाप्रवणो वै पितृलोकः' (शतपथ १३-८-४-७), 'कर्मणा पितृलोकः' (बृ० उ० १-५-१६), 'मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशम्.....' (छां० उ० ५-१०-४) आदि श्रुतियों के प्रमाणों से पितृलोक भी एक स्वतन्त्र लोक सिद्ध है, जो दक्षिण दिशा में भूलोक के ऊपर चन्द्रमण्डल के अन्तर्गत वा आस-पास स्थित है ।

इस लोक के अधिष्ठाता अर्यमा, अग्निष्वात्ता आदि देवता हैं । ये उस लोक में इन्द्रादि की तरह ही शासन करते हैं । इनके सहकारी अष्टावसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य देव हैं । ये ही अर्यमा आदि पितृलोक के अधिष्ठाता अपने सहयोगी वसु आदि देवों के द्वारा इसका पूरा-पूरा पता रखते हैं कि मरने के अनन्तर पुरुष किस योनि में गया, किस देश में है, उसके वंशीय पुरुषों ने उनके लिए क्या-क्या कृत्य किये आदि । जब मृत पितरों के वंशज उनके नाम से वैदिक मन्त्रों द्वारा श्राद्ध-कर्म करते हैं तो वसुदेव के साथ पिता, रुद्रदेव के साथ पितामह और आदित्यदेव के साथ प्रपितामह आदि पितर उस समय उपस्थित होते हैं और श्राद्ध में प्रदत्त आहुति, भक्ष्य, भोज्य आदि पदार्थों का सार वासना रूप में ग्रहण कर प्रसन्नतापूर्वक श्राद्धकर्ता को आशीर्वाद दे जाते हैं, जिससे वंशज विविध तरह के पुत्र-पौत्रादि एवं धन-धान्यादि का सुखोपभोग करते हैं ।

श्राद्ध-प्रक्रिया के ज्ञाता जानते हैं कि उस कृत्य के प्रारम्भ में वेदमन्त्रों द्वारा पितरों का आवाहन होता और यजनादि के बाद उन्हें मन्त्रों द्वारा विसर्जित भी किया जाता है । जब यज्ञ-यागादि के अवसर पर मन्त्रों द्वारा आहूत होने पर इन्द्रादि देव आते हैं तो कोई कारण नहीं कि श्राद्ध में भी मन्त्रों द्वारा आहूत होने पर अपने अधिष्ठाता वसु आदि देवों के साथ पिता-पितामहादि पितर न आयें ।

हाँ, तो यह स्पष्ट हो गया कि वंशजों द्वारा श्राद्ध करने पर उनके पितर उस समय आते अवश्य हैं । अब पूछा जा सकता है कि यदि वे आते हैं तो

दीखते क्यों नहीं ? ईश्वर आदि की बात तो अलग है। उन्हें हम कभी देखते ही नहीं, जब कि पितरों को न केवल देखते ही हैं अपितु उनके द्वारा लालित और पालित भी होते हैं। फिर वे यहाँ आने पर भी अदृश्य क्यों और कैसे हो जाते हैं ?

इसका समाधान भी शास्त्रीय दृष्टि के पुरुषों के लिए कठिन नहीं। योगदर्शन में एक सूत्र आता है :

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे
चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।
(यो० द० ३-२१)

इसे यों समझें : नियम है कि ध्येय ध्याता के अधीन हो जाता है। इसका प्रमाण है, भक्त द्वारा निरन्तर ध्यान करने पर भगवान् का उसके अधीन हो जाना। इसी नियम के आधार पर महर्षि पतञ्जलि ने कतिपय विषयों पर संयम या उत्कृष्ट ध्यान कर उन्हें अपने अधीन कर लेने की अद्भुत प्रक्रिया बतायी है। उसी प्रसंग में यह भी एक सूत्र है।

इसका सामान्य अर्थ यह है कि योगी जब अपनी काया के रूप पर संयम करता है तो रूप में स्थित रूपवान् काया का प्रत्यक्ष करानेवाली ग्राह्य-शक्ति स्तम्भित हो जाती है, उसके अधीन हो जाती है। वह न चाहे तो उसकी काया का कुण्ठित-ग्राह्य-शक्ति यह रूप दूसरे के चक्षु से सम्बद्ध ही नहीं हो पाता। सूर्य के प्रकाश में सामने खड़ा होने पर भी कोई उसे देख नहीं सकता। यही कारण है कि कई महात्मा देखते-देखते अदृश्य हो जाते हैं। उनके द्वारा चक्षु के विषय रूप की ग्राह्य-शक्ति कुण्ठित कर दी जाती है। फिर वे हमें दिखाई पड़ें तो कैसे ?

अब विचार करें कि जब हम-आप जैसे पुरुष योग के प्रभाव से अपने को अदृश्य कर सकते हैं, तो श्राद्ध में आते समय वस्वादि पितृदेव सहित पितर क्यों न ऐसा कर सकेंगे ? ध्यान रहे कि भगवान् ने अपनी विभूतियों में पितरों के अधिष्ठाता अर्यमादेव को अपनी एक विभूति माना है :

पितॄणामर्यमा चास्मि
(गीता १०-२९)

अब आप पूछ सकते हैं कि आखिर पितर ऐसा क्यों चाहते हैं या उनके अधिष्ठाता पितृदेव ही ऐसा क्यों करते हैं ? उत्तर स्पष्ट है, अपने मृत पितर

उसी प्रकार आयें, वंशज उनकी ममता में फँस जायें, उनसे संकोच और भय करने लगें तो उस कार्य में बाधा आ जायगी। पद्मपुराण के पाताल-खण्ड में वर्णन आता है कि पुष्कर-यात्रा के समय वियोग वापी के निकट जब प्रभु राम सीता जी सहित पितरों का श्राद्ध करने लगे तो सीता जी को ब्राह्मणों के शरीर में प्रविष्ट दशरथादि मृत पितरों का दर्शन हो गया, जिससे माता सीता ने लज्जावश घूंघट निकाल लिया और अन्यत्र चली गयीं। महाराज मनु भी उसकी पुष्टि करते हैं :

निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते॥
(मनु० ३-१८४)

अर्थात् निमन्त्रित ब्राह्मणों में मृत पितर वायु की तरह प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे पितृस्वरूप ब्राह्मणों का ही श्राद्धकर्ता पूजन-यजन करता है। अतः यह मानना ही पड़ता है कि श्राद्ध में मन्त्र द्वारा आहूत होने पर पितर आते हैं, पर उन्हें हम चर्म-चक्षुओं से देख नहीं पाते। उनके दर्शन के लिये तो दिव्य-चक्षु चाहिए।

जब श्राद्ध के लिए इतने सारे प्रमाण मिलते हैं तो फिर न जाने क्यों लोग वृथा तर्क-वितर्क किया करते हैं। और तो और, जिसे आज के लोग पूरे प्रामाण्य के साथ मानते हैं, वह गीता भी श्राद्ध, पिण्ड-दान आदि क्रियाओं को कितना महत्त्व देती है। देखिये, महाभारत-युद्ध में अर्जुन को सबसे पहले यही चिन्ता हुई कि हमारा वंश ही उजड़ जायगा तो मृत पितरों की पिण्ड-दानादि क्रियाओं को कौन करेगा? वे भगवान् से पूछते हैं :

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
(गीता १-४२)

अर्थात् हे कृष्ण! हम लोगों का परस्पर युद्ध होने से कुल ही नष्ट हो जायगा। कुल के नष्ट हो जाने पर कुल का सनातनधर्म नष्ट हो जायगा और अधर्म बढ़ेगा। अधर्म बढ़ने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी। हे वार्ष्णेय, दूषित स्त्रियों से वर्णसंकर पैदा होंगे और वर्णसंकरों द्वारा दिया हुआ पिण्ड-जलादि पितरों को पहुँच नहीं पायेगा। फलतः कुल-नाश के साथ-साथ पितरों का भी पतन हो जायगा।

इस प्रकार जब श्राद्ध के विषय में गीतादि सम्माननीय ग्रन्थों के प्रबल प्रमाण मिलते हैं तब हमें इसमें सन्देह ही क्यों होता है ? कारण, क्या कर्म है और क्या अकर्म, क्या धर्म है और क्या अधर्म, ऐसी जिज्ञासा करनेवालों के लिए तो एकमात्र श्रुति ही प्रबल प्रमाण है । मनु महाराज कहते हैं :

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।

फिर भी जो दुर्भाग्यवश युक्ति एवं पुराणादि प्रबल प्रमाणों के रहते इन बातों में आस्था न करें, उनकी असाध्य दुर्बुद्धि-व्याधि की चिकित्सा भववैद्य, बाँकेबिहारी प्रभु श्रीकृष्ण ही करें !

हाँ, इस प्रसंग में एक बात कह देना उचित होगा कि पितरों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का यह कर्म श्राद्ध विधिपूर्वक और श्रद्धापूर्वक ही होना चाहिए । साथ ही इसमें किसी प्रकार का वित्तशाठ्य न करना चाहिए अर्थात् अपनी शक्ति होते हुए भी कृपणता न करनी चाहिए । आजकल जो श्राद्ध करते भी हैं वे प्रायः विधिपूर्वक और श्रद्धापूर्वक नहीं करते । इसीलिए उन्हें श्राद्ध का पूरा-पूरा फल भी नहीं मिल पाता । आज तो यह दूषित क्रम चल पड़ा है कि श्राद्ध में किसी ब्राह्मण को निमन्त्रित करेंगे तो उसे लोटा या गड्वी ऐसी दान करेंगे जिसके जल से कोई हाथ धोना भी पसन्द न करे । ब्राह्मण को कपड़े भी ऐसे देंगे जिनका उचित उपयोग ही न हो पाये । यह है आज के श्राद्धकर्ताओं की श्रद्धा !

अब तो बाजारों में भी सामानों के दो स्तर बन गए हैं । किसी दूकान में सामान लेने जायँ तो दूकानदार पहले ही पूछेगा कि दान के लिए आपको चाहिए या अपने उपयोग के लिए ? वही दान-श्रेणी का सारा सामान लाकर श्राद्ध के लिए जुटा दिया जाता है, मानो निलामी माल ही लाया गया हो । पर ध्यान रखें कि श्राद्ध में ब्राह्मणों को इस प्रकार का दान देनेवाले अपने माता-पिता के साथ कृतज्ञता नहीं, कृतघ्नता करते हैं । अहो ! जिन माता-पिता ने अपने पुत्रों के लिये अटूट धन कमाया और सारा ही उनके लिये छोड़ गये, उनके निमित्त किये जानेवाले श्राद्ध में उनकी स्मृति के दिन उत्तम, उपयोगार्ह वस्तुएँ देने में इतना सकोच करना और ऐसी सड़ी चीजें उनके नाम पर ब्राह्मणों को देना ! इससे बढ़कर कृतघ्नता क्या हो सकती है !

वास्तव में श्रद्धापूर्वक पितरों के उद्देश्य से विधिपूर्वक जो अन्न-वस्त्र, द्रव्यादि दिया जाता है उसी को श्राद्ध कहते हैं। यदि इस कर्म में न श्रद्धा हो

और न विधि का ही पालन किया जाय, तो वह निष्प्राण शरीर-सा व्यर्थ ही हो जायगा।

इस पर कोई शङ्का करते हैं कि श्रद्धा से जो किया जाता है, दिया जाता है वह यदि श्राद्ध है तो हम कितने ही काम श्रद्धा से करते हैं, क्या वे भी 'श्राद्ध' कहलायेंगे ? किन्तु ऐसी शङ्का करनेवाले वेचारे शब्दों का शास्त्र ही नहीं जानते।

शास्त्रों में शब्द तीन प्रकार के माने गये हैं : १. यौगिक २. रूढ और ३. योगरूढ।

यौगिक शब्द वह है जिसका विग्रह कर अर्थ किया जा सके। दूसरे शब्दों में अवयवार्थ-बोधक शब्द यौगिक कहलाता है। जैसे पाचक अर्थात् रसोइया। संस्कृत भाषा के अनुसार उसका विग्रह होता है : 'पचति इति पाचकः' अर्थात् जो पकाता है। यह पाचक शब्द के अवयव से ही अर्थ निकल आता है।

दूसरे प्रकार के शब्द 'रूढ' हैं। 'रूढ' शब्द का अर्थ है, जहाँ विग्रह से प्रकृत अर्थ न निकले, केवल परिभाषा या संकेत से वह अर्थ निकालना पड़े। जैसे : 'गौः' अर्थात् गाय। इस शब्द का यदि आप विग्रह करने लग जायें, 'गच्छति इति गौः' (जो जाता है वह गाय है) यह कहें तो जानेवाले मनुष्य आदि सभी गाय होने लगेंगे। इसलिए वहाँ विग्रह या अवयव का अर्थ नहीं चलता। संकेत से ही अर्थात् चार पैर, पूंछ, दो सींग और सास्नावाला पशु गाय है, इस प्रकार परिभाषा से ही गाय अर्थ निकालना पड़ता है।

तीसरा शब्द 'योगरूढ' होता है, जिसका अर्थ है—जिसमें 'योग' भी बने और 'रूढ' भी। अर्थात् दोनों तरह की शक्तियों से मिलकर जो शब्द कोई अर्थ बताये वह योगरूढ है। जैसे : 'जलजम्' अर्थात् कमल। इसका यौगिक अर्थ है : 'जलात् जातं जलजम्' = जो जल से पैदा हो। देखिये, कमल में यह अवयवार्थ लागू होता है, कारण, वह जल से पैदा होता है। पर केवल यही यौगिक अर्थ मानें तो जल से उत्पन्न होनेवाले सेवार-मछली आदि अन्य वस्तुएँ भी जलज (कमल) होने लगेंगी। फिर स्थल-पद्म तो (गुलाब) भी होता है, पर वह जलज (जल से उत्पन्न) नहीं अतः उसका इस शब्द से ग्रहण न हो पायेगा। इसलिए यहाँ रूढि या संकेत भी मानना होगा। इस प्रकार 'जलज' शब्द 'योगरूढ' कहलाता है।

इसी तरह प्रकृत में 'श्राद्ध' शब्द भी केवल यौगिक शब्द नहीं है। वैसा मानने पर ही पूर्वोक्त शंका हो सकती है। किन्तु 'योगरूढ' शब्द मानने पर ऐसी कोई आपत्ति नहीं आती। योगरूढ 'श्राद्ध' शब्द का अर्थ है, श्रद्धापूर्वक मृत पुरुषों के निमित्त यथाविधि जो कुछ ब्राह्मण-भोजन पिण्ड-दानादि देश, काल और पात्र देखकर किया जाता है वही वैदिक श्राद्ध-कर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई कृत्य 'श्राद्ध' नहीं कहला सकता।

सज्जनो,

इस विवेचन से आपके सामने श्राद्ध की एक संक्षिप्त रूपरेखा खड़ी हो गयी होगी। अब श्राद्ध का अन्न पितरों को कैसे पहुँचता है और पहुँचानेवाले कौन हैं, इसका विवेचन कल किया जायगा।

[१८ अक्तूबर, १९३९]

२

श्राद्ध कैसे पहुँचता और कौन पहुँचाता है ?

सज्जनो,

कल आपको बता दिया गया कि श्राद्ध किसे कहते हैं। यह भी बताया गया कि श्राद्धकृत्य में वेदमन्त्रों द्वारा पितरों का आवाहन किया जाता है, जिससे पितृलोक के अधिष्ठातृदेव अर्यमा आदि हमारे मृत पितरों को साथ ले उपस्थित हो जाते हैं। ईश्वर-विभूतिरूप पितर भी श्राद्ध के समय अदृश्य रहते हैं। मानव का समृद्ध दीर्घ जीवन पितरों की कृपा पर निर्भर है।

इस पर यह शंका उठायी जाती है और कहा जाता है कि 'यदि श्राद्ध में मृत पितर आकर भोजन का सारांश ग्रहण कर ले जाते हैं तो उस भोजन में कुछ कमी क्यों नहीं आ जाती ? यदि खीर का कटोरा भरकर वहाँ रख दें और थोड़ी देर बाद उसे तौलें तो छटाँक, आध छटाँक का अन्तर पड़ना ही चाहिए, पितरों ने उसमें से सार जो ग्रहण कर लिया है। पर तौलने पर खीर तोला-माशा भी कम नहीं होती। फिर, बिना खाये ही वे तृप्त कैसे हो जाते हैं ? इसलिए स्पष्ट है कि पितर आदि देव भोजन का सारांश आदि कुछ भी ग्रहण नहीं करते। यह तो केवल ब्राह्मणों ने अपने खाने का ढंग रच रखा है।'

यहाँ इतना समझना आवश्यक है कि पितरों द्वारा भोजन का सारांश ग्रहण करने पर भी भोजन उतना का उतना ही रहता है। उसमें किसी प्रकार

की कमी नहीं आती, इस कारण श्राद्ध को झूठ या ब्राह्मणों को भला-बुरा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यही तो पितरों में अलौकिक शक्ति है कि वे भोजन का सार ग्रहण करने पर भी उसकी मात्रा में तनिक भी कमी नहीं आने देते।

सज्जनो,

यह शक्ति ईश्वर ने केवल पितरों को ही नहीं दी बल्कि अन्य जनों को भी दी है। पशु-पक्षी, कीटादि जन्तुओं द्वारा किसी वस्तु को ग्रहण कर लेने पर क्या उसमे कमी आती है। वस्तु की तौल एवं आकार ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

पहले हाथी को ही ले लें। हाथी कैथा (कपित्थ) फल को खाकर, उसका सार ग्रहण कर उसे लीद के साथ वैसे-का-वैसा निकाल देता है। फल की आकृति तक में अन्तर नहीं आने पाता। हाथी जैसा, जितने आकार और तौल का कैथा खायेगा, उतने ही आकार और तौल का बाहर निकाल देगा। अब सोचें कि जब एक पशु में यह शक्ति है कि खायी हुई वस्तु का सार ग्रहण कर लेता है पर उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं आने देता तो क्या पितरों में यह शक्ति नहीं हो सकती ?

भाई, जब वे गीता के अनुसार भगवद्-विभूति हैं तो उनके किसी कृत्य में आश्चर्य की कौन-सी बात है। वे सब कुछ कर सकते हैं। आप में ऐसी शक्ति नहीं तो उसका अर्थ यह कैसे मान लिया जाय कि किसी में वह हो ही नहीं सकती ? प्रभु ने अपनी शक्ति का उपयोग भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। आप देख सकते हैं कि मधुमक्खियाँ फूलों का सारांश ग्रहण कर उससे मधु (शहद) तैयार कर देती हैं, पर फूलों में किसी प्रकार की विकृति नहीं आने देतीं। भँवरा भी दिन भर फूलों का रस लेता है और उन्हीं में बैठा रहता है। आप उसे उड़ाकर फूलों को देखें तो उनमें कोई विकार नहीं दीखेगा। आखिर ऐसा क्यों होता है ? कहना होगा कि ईश्वर ने ही अपनी सृष्टि में पशु-पक्षी, कीटादि में कहीं-कहीं ऐसी शक्ति दे रखी है : फिर, जब पशु-पक्षियों में यह शक्ति है तो पितरों की इस शक्ति के विषय में संदेह क्यों ? सीधे क्यों नहीं मान लेते कि श्राद्ध में भोजन का सारांश ग्रहण करके भी पितर किसी प्रकार भोज्य पदार्थ में अन्तर नहीं आने देते !

यदि आप पूछें कि पितर भोजन का सारांश ग्रहण कर असार अंश अलग कैसे कर देते हैं ? तो इसका उत्तर भी स्पष्ट है। आपने जोंक देखी ही होगी,

जो पानी में रहती है। उसमें यह शक्ति है कि मनुष्य के शरीर का सारा गन्दा रक्त चूस लेती है और शुद्ध रक्त छोड़ देती है। यह उदाहरण कुछ उल्टा है। जोंक बुरा ले लेती है और अच्छा छोड़ देती है, जब कि पितर अच्छा ले लेते हैं और बुरा छोड़ देते हैं। यहाँ उदाहरण सारासार-विवेक की दृष्टि से दिया गया है। वह दोनों में समान लागू है। उदाहरण सर्वांश में तो कहीं नहीं घटता, जो सर्वांश में घटे वह उदाहरण ही कैसा?

छोड़िये इसे, दूसरा उदाहरण लें। हंस में कितनी अलौकिक चतुरता है। दूध में से पानी अलग करने के लिए आप से कहा जाय तो आप स्पष्टतः अस्वीकार कर देंगे। अधिक से अधिक यन्त्र लगाकर यह बता देंगे कि इसमें इतना पानी है। दूध का दूध और पानी का पानी नहीं कर सकते। पर हंस की दक्षता विलक्षण है, जो दूध में चोंच डालते ही दूध अलग और पानी अलग कर देता है। विचित्र सृष्टि की विचित्र महिमा कहाँ तक गायी जाय! यही कहना पड़ता है कि परमेश्वर ने जिसे जो शक्ति प्रदान की है उसमें किसी तरह की शंका करना अपनी अनभिज्ञता ही बताना है।

लज्जावंती, लजीली को ही देखिए! हाथ का स्पर्श होते ही यह लता सँकुचा जाती है, संकुचित हो जाती है। और चुम्बक! लोहे-से जड़ पदार्थ में भी आकर्षण पैदा कर देता है। चुम्बक का सन्निधान होते ही लोहे का टुकड़ा नाचने लगता है। बताइये, यह सब क्यों होता है? यहाँ आपके भौतिक नियम, वैज्ञानिक फार्मूले और उपपत्तियाँ धरी की धरी रह जाती हैं। आज तक इस बेजोड़ वैज्ञानिक के विज्ञान का पता लगाने में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हार खा गये, तब हम-आपकी बिसात ही क्या! फिर हम यह शंका करने का भी अधिकार कैसे रख सकते हैं कि पितर श्राद्ध का अन्न कैसे ग्रहण करते हैं और क्यों करते हैं। स्पष्ट है कि जिसमें प्रभु ने जो शक्ति दे दी है उसके बल पर ही वह वैसा काम कर पाता है। जब हाथी, मधुमक्षिकाएँ तथा भ्रमर खाद्य वस्तुओं में किसी तरह का अन्तर न लाते हुए उनसे रस ग्रहण करने की सामर्थ्य रखते हैं तो क्या पितरों में यह शक्ति नहीं हो सकती?

सज्जनो,

अब तक आपको यह बताया गया कि पितरों में ऐसी शक्ति है कि वे प्रदत्त भोज्य का सार अंश ग्रहण करके भी उस वस्तु में तनिक भी विकृति नहीं आने देते। अब दूसरी दृष्टि से भी इसका समाधान किया जा सकता है। देखें: पितर शब्द से केवल हमारे मृत पिता-पितामहादि ही नहीं, अपितु मृत

पिता, पितामह आदि के अधिष्ठाता विशिष्ट वसु, रुद्र आदि अधिष्ठातृदेव लिये जाते हैं।

इसे यों समझें : मान लीजिए किसी का नाम गिरधारीलाल है। तो, आप न उसके शरीरमात्र को गिरधारीलाल कहेंगे और न उसके जीवात्मा को। दोनों को मिलाकर ही गिरधारीलाल कहेंगे। कारण, वह यदि मर जाता है तो उसके मृत शरीर को यह कहकर नहीं बुलाया जाता कि 'ए गिरधारीलाल, आ जा।' गिरधारीलाल तो तभी तक था जब तक कि उसमें जीवात्मा रहा। केवल जीवात्मा को भी गिरधारीलाल नहीं कहा जा सकता। जीवात्मा में सम्बोधनादि व्यवहार तभी सम्भव है जब उसका अपने भोगायतन शरीर के साथ सम्बन्ध हो। अतः स्पष्ट है कि गिरधारीलाल का अर्थ है तादृश-शरीर-विशिष्ट जीवात्मा। यह बात प्रत्येक मनुष्य में घटती है। कोई विशेष संज्ञा किसी जीवात्मा और उसके शरीर को ही लेकर की जा सकती है, एक-एक को लेकर नहीं। ठीक इसी प्रकार हमारे मृत पुरुष ही पितर नहीं कहे जा सकते, बल्कि उनसे विशिष्ट उनके अधिष्ठाता देव पितर कहे जायँगे।

दूसरे शब्दों में पितर दो प्रकार के हैं : एक तो वे जो हमारे पूर्वज मरकर गये हैं। और दूसरे वे, जो पहले से ही पितृलोक में स्थित हैं, अर्थात् नित्य पितर—वसु, रुद्र, आदित्य, आदि। इस प्रकार जब हम 'पित्रे स्वधा' कहकर कोई वस्तु श्राद्ध में समर्पित करते हैं तो वसु देवता हमारे मृत पिता को लेकर वहाँ उपस्थित हो जाते हैं, 'पितामहाय स्वधा' कहते हैं तो रुद्र देवता हमारे दादा को लेकर आते हैं और 'प्रपितामहाय स्वधा' कहते हैं तो आदित्य देवता हमारे परदादा को साथ ले पहुँच जाते हैं।

इसे आप कोरी गप न समझें। हमारे यहाँ अपनी ओर से, निष्प्रमाण कुछ नहीं कहा जाता। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा साक्षात्कार कर जो कुछ अपने मुखारविन्द से प्रकट किया या लिख दिया, वही हम आप लोगों के सामने रखते हैं। ऋषि-सन्तान होते हुए भी हमारे कितने ही भाई उनकी आज्ञाओं, विधानों को भूल गये हैं। इसीलिए सोचा जाता है कि क्यों न उनकी दिव्य ज्ञान-ज्योति का प्रकाश इनके अन्तर में जगा दिया जाय। कारण, उस प्रकाश के रहते जीवन के किसी भी क्षेत्र में मानव कभी विफलता का शिकार नहीं हो सकता और अपने उज्ज्वल परमपद तक पहुँच जाता है।

हाँ, तो हमारे उपर्युक्त विधान की पुष्टि मनु महाराज का यह वचन ही करता है :

वसून् वदन्ति तु पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथाऽऽदित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी॥
(मनु० ३-२८४)

अर्थात् हमारे पिता को 'वसु', दादा को 'रुद्र' और परदादा को 'आदित्य' (सूर्य) कहा जाता है। यह सनातन श्रुति-वचन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि श्राद्ध में हमारे पितर इन वस्वादि देवों से अधिष्ठित होकर ही आते हैं।

इतना ही नहीं, पहले देवतारूप पितरों की तृप्ति होती है, उसके पश्चात् मनुष्यरूप पितरों की। इस विषय में श्रुतिवचन भी प्रमाण है :

देवान् वै पितन् प्रीतान् मनुष्याः पितरोऽनुप्रीयन्ते
(तै० आ० १-३-१०-४)

अर्थात् देवतारूप पितरों के तृप्त होने के बाद मनुष्यरूप पितर तृप्त होते हैं। तात्पर्य यह कि देवताओं के तृप्त होते ही ये भी तृप्त हो जाते हैं।

एक उदाहरण द्वारा इसे समझें : कोई गृहस्थ बाजार से कोई वस्तु लाकर अपनी गर्भिणी पत्नी का दोहद पूरा करता है। गर्भिणी उसे खाकर स्वयं तृप्त होती है और उसकी तृप्ति से गर्भस्थ बालक को पुष्टि मिलती है। फिर नौ मास बाद जब प्रसव होता है तो हृष्ट-पुष्ट पुत्र का मुख-कमल देख गृहस्थ निहाल हो उठता है। ठीक इसी प्रकार श्रद्धालु श्राद्धकर्ता अपने पितरों के निमित्त यथाविधि भोजनादि का दान करता है तो वसु आदि देव उपस्थित हो उसे ग्रहण कर स्वयं तृप्त होते और श्राद्धकर्ता के पितरों को भी तृप्त कर उसे आशीर्वाद देते हुए चले जाते हैं।

अब देखने की बात यह है कि ये पितृदेव तृप्त कैसे होते हैं। क्या वे लड्डू-जलेबी की थालियाँ साफ कर और खीर के कटोरे उड़ाकर तृप्त होते हैं? नहीं, देवताओं की तृप्ति का अनुमान मानव कभी अपने ढंग से लगाने बैठेगा तो निश्चय ही भूल करेगा। इसके लिए उसे श्रुति-शास्त्र की ही शरण लेनी पड़ेगी। कारण, देवताओं की सारी बातें निराली ही हुआ करती हैं। श्रुति कहती है :

न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति दृष्ट्वैव तृप्यन्ति।

अर्थात् देवता लोग न तो भोजन करते हैं और न पानी ही पीते हैं। वे तो उन वस्तुओं को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। पितरों का भी ठीक यही हाल है। कारण, वे भी देवांश हैं। वे भी पुत्रादि-प्रदत्त अन्न को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। अब आप ही सोचें कि जब भ्रमर के सदैव फूल में रहकर रस चूसने

पर भी फूल में कोई अन्तर नहीं आता तो क्या पितरों द्वारा अन्न के देखने या सार ग्रहण करने मात्र से उसमें कोई कमी आ सकती है ? यदि नहीं तो श्राद्ध में पितरो के आने और भोज्य ग्रहण करने में शंका ही क्यों ?

कोई यह भी शंका करते हैं कि क्या पितरों को इस तरह अन्नादि पहुँचने में कभी गड़बड़ी नहीं होती ! सदैव ठीक-ठीक उन्हें पहुँच जाता है ? कहना होगा हाँ, ठीक-ठीक उन्हें पहुँच जाता है, कभी उसमें कोई गड़बड़ी नहीं होती, यदि श्राद्धकर्ता कोई गड़बड़ी न करे। देखिये :

हम लेटर-बक्स में पत्र छोड़ते हैं तो वह पोस्ट-विभाग के सुप्रबन्ध से दुनिया के किसी छोर में पहुँच जाता है। पोस्ट-विभाग का अधिकारी उसका पूरा प्रबन्ध करता है। रजिस्ट्री, बीमा, मनीआर्डर आदि की सारी जिम्मेदारी वह वहन करता है। ठीक इसी तरह पितरों को भी दिया हुआ अन्न पहुँचाने का पितृ-राज्य में पूरा प्रबन्ध है। प्रदेश के गवर्नर की तरह पितृ-राज्य के सबसे बड़े अधिकारी अर्यमादेव हैं और आठ वसु, एकादश रुद्र, बारह आदित्य आदि पितृदेव हैं उनके सहयोगी। वे सारा हिसाब-किताब रखते हैं। जरा भी इधर-उधर नहीं होने देते। कदाचित् अर्थ-लोलुपता, अज्ञान या प्रमाद-वश मानवीय प्रबन्ध में अव्यवस्था हो भी सकती है पर आप्तकाम, सर्वज्ञ, सर्व-शक्ति-सम्पन्न देववर्ग के प्रबन्ध में उसकी कभी संभावना ही नहीं। कहना न होगा कि सर्व-शक्तिमान् जगदीश्वर ही पितृराज्य के शासनार्थ नियुक्त अर्यमा आदि पितृदेवों द्वारा वहाँ का सारा प्रबन्ध ठीक करवा देते हैं। हाँ, यदि हम पत्र या मनीआर्डर पर पता ही ठीक न लिखें, पत्र लेटर-बक्स में न छोड़ें और न मनीआर्डर ही उत्तरदायी व्यक्ति के हाथ सौंपें तो गड़बड़ी हो सकती है। इसी तरह यदि विधिवत् श्राद्ध न किया गया तो उसके पहुँचने में निश्चय ही गड़बड़ी होगी। यह श्राद्धकर्ता का दोष है, प्रबन्धक देवों का नहीं।

सज्जनो,

यह तो हमने आज के लोगों की छोटी-छोटी कतिपय शंकाओं का समाधान किया। सच पूछें तो इन लोगों को ढंग से शंकाएँ करने ही नहीं आतीं। पुराणकर्ता प्राचीन ऋषि-मुनियों ने स्वयं ही श्राद्ध के विषय में जैसी चुन-चुन कर शंकाएँ प्रस्तुत कीं और उनके जैसे अकाट्य, युक्तियुक्त समाधान किये उन्हें देख आश्चर्य होता है। इसलिए क्यों न हम उनकी सारी शंकाएँ पहले से रखकर उनका समुचित समाधान कर दें, ताकि बाद में उन्हें किसी तरह का मतिभेद ही न हो।

हाँ, तो पहले शंकाएँ सुनिये, पश्चात् उनके समाधान सुनाये जायेंगे। प्रथम शंका यह है :

कथं कव्यानि दत्तानि हव्यानि च जनैरिह।
गच्छन्ति पितृलोकं वा प्रापकः कोऽत्र गद्यते॥
(पद्म एवं मत्स्यपुराण)

अर्थात् श्राद्धकर्ता जो अपने पितरों के लिए हव्य और कव्य देते हैं वे पितृलोक कैसे पहुँचते हैं और उन्हें पहुँचानेवाले कौन होते हैं। यहाँ ज्ञातव्य है कि देवताओं के उद्देश्य से जो अन्न दिया जाता है उसे 'हव्य' कहते हैं, जब कि पितरों के उद्देश्य से दिये जानेवाले को 'कव्य'। श्राद्धकृत्य में पितृगण के साथ देवयजन के अभिप्राय से ही यहाँ 'हव्य' शब्द प्रयुक्त है।

अब दूसरी शंका लीजिये :

तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः।
दद्यात् श्राद्धं श्रद्धयाऽन्नं न वहेयुः प्रवासिनः॥
(विष्णुपुराण)

अर्थात् यदि अन्य के खाने पर अन्य की तृप्ति होती है तो विदेश जानेवाले व्यक्ति को मार्ग में खाने के लिए अन्न क्यों दिया जाता है? घर पर ही श्रद्धा से ब्राह्मण को भोजन करा दें तो विदेश में गये व्यक्ति की अपने आप तृप्ति हो जायगी। जब आप यहाँ ब्राह्मण को खिलाकर परलोक के पितर को तृप्त कर देते हैं तो यह प्रवासी तो इसी भूमण्डल पर रहता है। उसका पेट ब्राह्मण को खिलाने पर क्यों न भर जाय?

तीसरी शंका की यह अनोखी सूझ देखिये :

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धमाप्यायते ततः।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य तैलं संवर्धयेच्छिखाम्॥
(स्कन्दपुराण)

अर्थात् यदि श्राद्धीय अन्न से मृत पुरुष की भी तृप्ति हो जाती हो तो बुझे दीपक में तेल डालने पर उसे भी प्रज्वलित हो उठना चाहिए। सारांश, दीपक के जलते हुए यदि आप उसमें तेल छोड़ें तो वह प्रज्वलित रह सकता है, पर बुझे दीपक में मनों तेल डाल दें तो भी वह जल नहीं उठता, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। खिलाने पर मृत का तृप्त होना प्रत्यक्ष बाध से ग्रस्त है।

चौथी शंका में थोड़े पाण्डित्य का भी पुट है :

> किमर्थं क्रियते श्राद्धममावास्यादिषु द्विजैः।
> मृताश्च पुरुषा विप्र स्वकर्मजनितां गतिम्।
> गच्छन्ति ते कथं तस्य सुतस्याश्रममाप्नुयुः॥
>
> (स्कन्दपुराण, नागरखण्ड)

अर्थात् अमावास्यादि तिथियों में द्विजों द्वारा श्राद्ध क्यों किया जाता है ? कारण, मृत पुरुष तो अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में चले जाते हैं। फिर अन्य योनि में पहुँचे पितर श्राद्ध के समय पुत्र के घर कैसे पहुँच सकते हैं। सारांश, यह बात आपके कर्मशास्त्र के अनुसार भी ठीक नहीं बैठती।

सज्जनो,

अब एक-एक कर सभी शंकाओं का समाधान उन्हीं प्राचीन आचार्यों के मुख से सुनें और देखें कि वे शंकाएँ कितनी थोथी हैं।

पहले कहा गया कि श्राद्ध में जो हव्य-कव्य दिया जाता है, वह पितरों के पास कैसे पहुँचता और कौन पहुँचानेवाला है। इसके लिए आप आज की स्थिति को लेकर समझें। जैसे हम कहीं पर पत्र, मनिआर्डर, बीमा आदि भेजते हैं तो उस पर पूरा-पूरा नाम-पता आदि लिख देते हैं जिससे वह भेजे गये व्यक्ति को ठीक-ठीक पहुँच जाता है। इसी तरह श्राद्ध करते समय भी पूरा-पूरा पता दे दिया जाता है। कहा जाता है : 'अमुकसंवत्सरे, अमुकमासे अमुकतिथौ, अमुकवासरे, अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहम्, अमुकनामाहं अमुकगोत्रस्य, अमुकनाम्नः, अमुकदेवस्वरूपस्य पितुस्तृप्तये श्राद्धं करिष्ये अर्थात् आज की तिथि में अमुक नाम-गोत्रवाला मैं अमुक गोत्र, नाम और स्वरूप के पितर की तृप्ति के लिए यह श्राद्ध कर रहा हूँ, श्राद्धान्न अर्पण कर रहा हूँ।' आप विचार करें कि क्या यह पूरा पता नहीं है ? यदि ऐसा कहने से कोई लाभ न होता तो कहा ही क्यों जाता ! यदि पूछें कि ऐसा करने में कोई शास्त्र-प्रमाण है, तो उसे भी लीजिये :

> नामगोत्रं तु पितृणां प्रापकं हव्यकव्ययोः।
> श्राद्धस्य मन्त्रास्तद्वच्चोपलभ्यानि भक्तितः॥
>
> (मत्स्य एवं पद्म पुराण)

अर्थात् पितरों के नाम गोत्र और श्राद्धीय वैदिक मन्त्र ही उन-उन पितरों के पास उनके प्रीत्यर्थ दिया हव्य-कव्य पहुँचाते हैं। पर वह पहुँचेगा कब ? जब

कि भक्तिपूर्वक और विधिपूर्वक किया जाय। जैसे आप पत्र पर पूरा-पूरा पता भी लिख दें, पर उसे लेटर-वक्स में न डालकर किसी दान की पेटी में डाल दें या लेटर-वक्स के ही नीचे जमीन पर डाल दें तो क्या वह पहुँच सकेगा ? कभी नहीं। ठीक यही बात श्राद्ध की भी है।

वैसे तो आज श्राद्ध सभी करते हैं। ईसाई, मुसलमान, जैन, सिख, हिन्दू, सभी जातियों में श्राद्ध किया जाता है। आप देखते ही हैं कि ईसाइयों में कोई बड़ा साहब, वाइसराय आदि मर जाता है तो उसकी स्मृति में बड़े-बड़े भवन बनाये जाते हैं। मुसलमान, जैन, सिख भाइयों में भी प्रथा है कि मृत व्यक्ति के लिए या तो दान आदि दिया जाय या उसका कोई स्मारक चिह्न बनाया जाय। यह तो एक प्रकार का श्राद्ध ही है। परन्तु हमारे और उनके श्राद्ध में केवल इतना ही अन्तर है कि हम उसे विधि-विधानपूर्वक करते हैं और उसका फल भी पा लेते हैं। अन्य मतावलम्बी वेदविधि के विरुद्ध, उसे न मानकर इच्छानुसार करते हैं तो उन्हें सुखादि कोई पारलौकिक फल नहीं मिलता।

यों श्राद्ध करते समय या दान देते समय हमारा भी यही उद्देश्य रहता है कि हमारे पितर प्रसन्न हों और उन्हें परलोक में शान्ति मिले। अन्य भाइयों का भी यही उद्देश्य इस कर्म में रहता है, अन्तर इतना ही है कि उनके श्राद्ध में विधि का अभाव होता है। जैसे लेटर-वक्स से नीचे गिरा पत्र नहीं पहुँचता इसी तरह यहाँ पत्र का नीचे गिरना वेदविधि का अभाव ही है।

एक बात पर और ध्यान दें। श्राद्धीय वैदिक मन्त्रों में ऐसी विलक्षण शक्ति होती है कि पितरों के नाम आदि का उच्चारण करके दिये हुए पदार्थ उनके पास पहुँच जाते हैं। आजकल मनुष्यों के रचे सावरी आदि क्षुद्र मन्त्रों से भी सर्पादि का विष उतरते देखा जाता है तो ईश्वर के निःश्वासभूत वैदिक मन्त्रों में क्या यह शक्ति नहीं रह सकती ? अतः मानना पड़ेगा कि यथाविधि उच्चरित वैदिक मन्त्रों से हव्य-कव्य पितरों को पहुँच ही जाते हैं। मन्त्रशक्ति की तरह नाम-गोत्र के उच्चारण का भी यही रहस्य है कि जिसके वंशधर ने अपने जिस पूर्वज के निमित्त श्राद्ध किया उसी को वह पहुँचे, दूसरे को नहीं। कारण, पितरलोक में अनन्त पितर रहा करते हैं। अपना पूर्ण परिचय मिलने पर ही वे अधिष्ठाता देवों के साथ अपनी संतान के पास श्राद्ध-देश में अविलम्ब उपस्थित हो जाते हैं, यदि आने में समर्थ हों।

दूसरी शङ्का यह थी कि अन्य के खाने से यदि अन्य की तृप्ति हो जाती है तो विदेश-स्थित पुरुष की तृप्ति के लिए घर पर ही ब्राह्मण को क्यों न भोजन

करा दिया जाय ? प्रवास में चलते समय पाथेय, मार्ग का भोजन क्यों दिया जाय ? इसके उत्तर में पुराणकर्त्ता महर्षि कहते हैं :

एते• श्राद्धं सदा भुक्त्वा पितृन्सन्तर्पयन्त्युत ।
यत्र क्वचन धर्मज्ञा वर्तमानान् हि योगतः ॥

(विष्णुधर्मोत्तरपुराण)

अर्थात् वसु, रुद्र आदि पितृदेव श्राद्धीय अन्नादि का भोजन कर स्वयं तृप्त होते और पितरों को भी तृप्त कर देते हैं। चाहे वे कहीं हों, धर्मज्ञ-सर्वज्ञ पितर योग-बल से उन्हें जान लेते हैं और अपनी अलौकिक शक्ति से सन्तान द्वारा प्रदत्त श्राद्धान्न को उसके पूर्वजों तक पहुँचा देते हैं। इधर स्थूल जगत् में ऐसा कोई साधन ही नहीं जिसके द्वारा यहाँ ब्राह्मणकृत भोजन अन्यत्र पवासी के पास पहुँचाया जा सके। यह पता भी नहीं चलता कि वह इस समय कहाँ घूम रहा है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म सारग्राही दिव्य-शक्ति-सम्पन्न पितृगण सब कुछ करने की शक्ति रखते हैं। स्थूल जगत् में स्थूल के लिए स्थूल भोजन पहुँचाने का मार्ग भी स्थूल ही होगा। वह दृष्टिगोचर हो ही नहीं रहा है। पता नहीं फिर इस तरह का प्रश्न क्यों किया जाता है ?

यदि स्थूल भोजन को दुराग्रहवश दूरस्थ पुरुष के पास पहुँचाने की चेष्टा की जाय तो वह अधिक दिनों तक ठहरेगा ही नहीं, विकृत हो जायगा। फिर किसी व्यक्ति के हाथ ही उसे भेजना पड़ेगा, जो अज्ञानवश जिसे देना हो सम्भव है ढूंढ़ ही न पाये। अतएव, 'बकबन्धनप्रयासन्याय' से प्रस्थान के समय यात्री को पाथेय देना युक्तिसंगत है।

इस सम्बन्ध में अनेक प्रमाण हैं जो विस्तार-भय से यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं। सभी पुराणों में प्रायः श्राद्ध-प्रकरण आता है, जहाँ श्राद्ध-सम्बन्धी कितने ही रहस्यों पर प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ अग्निपुराण (अ० १६३), मार्कण्डेय पुराण (अ० ३० से ३३), बृहन्नारदीय पुराण (अ० २६), वाराहपुराण (अ० १३-१४), मत्स्यपुराण (अ० १६ से २२), कूर्मपुराण (अ० २० से २२) और लिङ्गपुराण (अ० ४५) के नाम लिये जा सकते हैं, जहाँ यह प्रकरण विस्तार के साथ वर्णित है। श्राद्ध-सम्बन्धी सभी विषय एक ही ग्रन्थ में देखने हों तो हेमाद्रिकृत 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' का श्राद्धखण्ड द्रष्टव्य है, जो १७१७ पृष्ठों में है।

तीसरी शंका यह की गयी थी कि यदि श्राद्ध से मृत पुरुषों की तृप्ति हो जाती है तो बुझा हुआ दीपक तेल डालते ही प्रज्वलित हो उठना चाहिए !

पर इसका उत्तर तो साधारण-सा है। दीपक जलने का साधन केवल तेल ही नहीं, अग्नि भी तो है। वह नहीं रहा तो कैसे जलेगा ? अग्नि लगाने पर वह तत्काल प्रज्वलित हो उठेगा। आपको अवगत ही है कि सब कारणों के रहने पर ही कार्य उत्पन्न होता है। एक कारण से कहीं भी कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं। क्या केवल लकड़ी से आप रसोई पका सकेंगे, यदि अग्नि न हो और घृत, शर्करा, पिष्टादि वस्तुएँ दी ही न जायँ ?

फिर, बुझे दीपक का मृत पुरुष के साथ साम्य हीं कैसा, जो स्वयं जड़ है ? इधर पितर का शरीर भले ही मर गया, पर उसमें रहनेवाला जीवात्मा तो लिङ्ग-शरीर से पितृ-लोक में विद्यमान है ही। वहाँ उसे स्थूल शरीर की तरह नया भोगायतन दिव्य शरीर भी मिल गया है जिसमें रहकर लिङ्ग-शरीर-विशिष्ट मृतात्मा सभी प्रकार के भोग भोग सकता है। तब ऐसी शंका शास्त्र का अज्ञान ही सूचित करती है।

चौथी शंका में कहा गया कि मृत पुरुष तो अपने शुभाशुभ कर्मों द्वारा विभिन्न योनियों में चले गये। कोई पक्षी, कोई पशु, कोई कीट तो कोई मनुष्य बन गया। फिर वे सभी मनुष्य-सुलभ भोजन से कैसे तृप्त होंगे ? हम ब्राह्मणों को खीर-पूड़ी, हलुवा-लड्डू खिलाते हैं। मान लीजिये, हमारा मृत पुरुष सर्प बन गया तो सर्प की खुराक हलुवा-पूड़ी तो नहीं हो सकती। कोई मृत पुरुष पशु बन गया तो उसकी खुराक घास ही होगी। तो क्या ब्राह्मणों को घास ही खिलायी जाय !

पर यह शंका भी निरा बचपने की है। इसका समाधान देवल मुनि के शब्दों में सुनिये :

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
गान्धर्वे भोग्यरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति॥
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम्।
दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम्॥
मनुष्यत्वेऽन्नपानादि नानाभोगरसो भवेत्।

अर्थात् जिस योनि में मृत पुरुष जाता है, वसु, रुद्रादि पितर श्राद्धकर्ता द्वारा प्रदत्त अन्न को उसी जाति के योग्य और वैसा ही खाद्य बनाकर उनके पास पहुँचा देते हैं। यदि मानव शुभ कर्मों के योग से मरने पर देव बनता है तो

अर्यमादि देव श्राद्धकर्ता द्वारा प्रदत्त अन्न को अमृत बनाकर उसके पास पहुँचा देते हैं। गन्धर्व जाति में भोग्य स्रक्, चन्दन, गीतादिरूप से, पशु जाति में तृण से, नाग (सर्प) योनि में वायु रूप से, यक्ष योनि में पेय द्रव्य रूप से, राक्षस, दानव और प्रेत योनि में तत्तदुचित भोग्य द्रव्य रूप से तथा मनुष्य योनि में अन्न-पानादि रूप से अर्थात् भोज्य ओदन-पायसादि और पेय दुग्ध-दध्यादि रूप से वह श्राद्धान्न अर्यमादि देवों द्वारा पहुँचा दिया जाता है।

ज्ञातव्य है कि यह कोई नियम नहीं कि जो वस्तु जिसे जैसी भेजी जाती है उसी रूप में उसे मिले। आप मनीआर्डर करते समय नोट ही जमा करें तो यह कोई बात नहीं कि उसके प्राप्तकर्ता को नोट ही और वे ही नोट मिलें, रुपये-पैसों में और अन्य नोटों के रूप में भी उसे मिल सकता है।

इसे और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है। मान लीजिये, आपका पुत्र बम्बई में पढ़ता है और आपका कोई मित्र भी वहाँ है। आप अपने मित्र को प्रतिमास १००) इसलिए भेजते हैं कि मेरे पुत्र को जो वस्तु चाहिए, देते रहें। आपका मित्र बच्चे को कपड़े की आवश्यकता पड़ने पर कपड़ा, पुस्तकों की आवश्यकता होने पर पुस्तकें या ऐसी ही कई आवश्यक वस्तुएँ समय-समय पर देता रहता है। पूछा जा सकता है कि ऐसा क्यों? आपने तो लड़के के खर्च के लिए रुपये भेजे थे, नोट भेजे थे, सामान तो नहीं। अतः स्पष्ट है कि जो वस्तु जैसी दी जाय वह प्राप्त करनेवाले को सदैव वैसी ही, उसी रूप में मिले, यह कोई नियम नहीं। हाँ, यह नियम हो सकता है कि जो वस्तु जिसके निमित्त दी जाती है उसकी आवश्यकता और योग्यता देख किसी न किसी रूप में उसी को मिलती है। तब यदि पितृदेव श्राद्धकर्ता द्वारा अपने मृत पिता के लिए दिया हुआ अन्न-पान मृतक की तत्कालीन योनि और खुराक देखकर उसी रूप में पहुँचा देते हैं तो इसमें किसी तरह की आपत्ति या सन्देह की बात ही क्या है।

सज्जनो,

अब आप निस्सन्देह समझ गये होंगे कि पितृलोक भी एक स्वतन्त्र लोक है, जिसके शासक अर्यमा, अग्निष्वात्ता आदि देव हैं और जिनके सहायक हैं वसु, रुद्र, आदित्य आदि नित्य पितर। मरने के बाद हमारे पिता-पितामह आदि इसी लोक में जाते हैं। परलोकगत पितरों को तृप्ति, शान्ति, पुष्टि मिलने के लिए उनके वंशज द्वारा सविधि अन्न-पानादि का दान ही श्राद्ध है। हमारे ये पितर वहाँ वसु, रुद्र, आदित्य आदि नित्य पितरों के तत्त्वावधान में, देख-

रेख में रहते हैं। श्राद्धकर्ता द्वारा दिये गये अन्न-पानादि इन्हीं नित्य पितरों के माध्यम से निश्चय ही हमारे पितरों तक पहुँचते हैं। जहाँ और जिस स्थिति में वे हों, तदनुरूप ही बनकर उन्हें वे प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार तृप्त देव और मानुष पितरों की कृपा से हमें अनेक प्रकार के अभीष्ट पदार्थों का लाभ होता है। अतः हमारा कर्तव्य है कि अपने पितरों की तृप्ति एवं प्रसाद के लिए यथाविधि श्राद्धकृत्य अवश्य करें। इसी की पुष्टि योगी याज्ञवल्क्य के ये श्लोक करते हैं।

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः॥

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥

(या० स्मृ०, आचा० २६९-७०)

अर्थात् श्राद्ध-देवता वसु, रुद्र और आदित्य श्राद्ध द्वारा सन्तर्पित होने पर मनुष्यों के मृत पितरों को तृप्त कर देते हैं। फिर वे मानव पितर श्राद्धकर्ता को दीर्घ जीवन, आज्ञाकारी सन्तान, विपुल धन, विविध विद्याएँ, राज्य, संसार के सभी सुखोपभोग, स्वर्ग—दुर्लभ मोक्ष तक प्रदान करते हैं।

[१९ अक्तूबर, १९३९]

३

श्राद्ध के लाभ और उसका वैदिक आधार

सज्जनो,

कल आपको बताया गया कि श्राद्ध करने पर पितर प्रसन्न होते और श्राद्धकर्ता के लिये सभी प्रकार के सुखोपभोग सुलभ कर देते हैं। इस सम्बन्ध में वाराह पुराण (पूर्वार्ध ७वें अध्याय) में एक बड़ी उद्बोधक कथा आती है, जो योगिराज सनत्कुमार ने रैभ्य मुनि को सुनायी थी।

प्रसंग यह है कि घोर तप कर रहे रैभ्य मुनि के पास भगवान् सनत्कुमार पधारे और कहने लगे कि 'वत्स ! तुम्हारे प्रेम से आकृष्ट होकर ही मैं यहाँ आया हूँ। तुम ब्रह्मकुल के संवर्धक हो, अतः सदैव धन्य हो।' इस पर रैभ्य ने प्रणाम कर सविनय पूछा कि 'प्रभो, मुझे धन्य क्यों कहा ? मुझ में कोई विशेष गुण तो है नहीं।' उत्तर में सनत्कुमार बोले कि 'मुने, तुम सदैव वेदरत रहते हो और गया में आकर पिण्डदान, जलतर्पण आदि द्वारा पितरों को भी प्रसन्न करते हो, इसीलिए धन्य हो।' इसी प्रसंग में उन्होंने श्राद्ध की महिमा प्रकट करनेवाली यह कथा बतायी, जो इस प्रकार है :

विशाला (उज्जयिनी) नगरी में विशाल नामक एक राजा राज्य करता था। वह अत्यन्त बुद्धिमान् और प्रजा-पालक था। यज्ञ-यागादि श्रौत-स्मार्त कर्मानुष्ठान में सदैव निरत रहता था। किन्तु उसे कोई सन्तान न थी अतः सदैव चिन्तित रहता था।

एक बार राजा ने वेदवेत्ता तत्त्वदर्शी ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर राज्य के योग्य अधिकारी पुत्र की उत्पत्ति का उपाय पूछा। निःस्पृह, तपस्वी ब्राह्मणों

ने विचार कर कहा : 'राजन्, आप गया क्षेत्र में जायें और वहाँ नानाविध अन्न-द्रव्यादि का दान कर अपने पितरों का श्राद्ध करें। ऐसा करने पर आप के पितर तृप्त हो आपको आशीर्वाद देंगे। उनके आशीर्वाद से आपको इच्छानुरूप पुत्ररत्न का लाभ होगा। पितरों की दैवी शक्ति के प्रभाव से जो बालक उत्पन्न होगा वह निश्चय ही सारी पृथिवी का शासक, वीर, दानी और वंश की कीर्ति बढ़ानेवाला होगा। अब तक पुत्र न होने में हमें आपके पितरों की असन्तुष्टि ही अन्तराय दिखाई पड़ रही है।'

राजा विशाल अत्यन्त प्रसन्न हुआ और दूसरे ही दिन अपने प्रमुख कर्मचारियों को लेकर गया के लिए चल पड़ा।

गया क्षेत्र पहुँचकर राजा ने शास्त्रविधि के अनुसार बड़े भक्ति भाव से पितृ-निमित्तक श्राद्ध, पिण्ड-दानादि वैदिक कृत्य सम्पन्न किये और ब्राह्मणों को विविध भोज्य, पेय, भोग्य पदार्थों एवं दक्षिणा से तृप्त कर दिया।

श्राद्ध की समाप्ति के समय एक विलक्षण घटना घटी। एकाएक तीन पुरुष राजा के सामने आकर खड़े हो गये, जिनमें एक का वर्ण गौर था, दूसरे का रक्त और तीसरे का कृष्ण। राजा उन्हें देख आश्चर्य-चकित हो हाथ जोड़ कहने लगा : 'भगवन्, आप लोग क्या चाहते हैं ? निःसंकोच अपना हार्दिक भाव व्यक्त करें। विशाल यथाशक्ति आपकी सभी अपेक्षाएँ पूरी करने के लिए वचन-बद्ध हो रहा है। आपके विविध वर्ण और चेष्टाएँ मन में अत्यधिक कुतूहल उत्पन्न कर रही हैं।'

गौरवर्ण पुरुष बोल उठा : 'वत्स ! मैं तेरा पिता 'सित' हूँ। नाम के अनुसार ही मैं सदैव शोभन कर्मों का अनुष्ठान करता रहा किन्तु श्राद्ध कर्म की ओर मेरा कभी आकर्षण नहीं हुआ। यह मेरे सत्कर्म का ही फल है कि तुम मुझे शुभ्र गौर-विग्रह में देख रहे हो। अपने सात्त्विक कर्मों के प्रभाव से अब मैं स्वर्ग में ही रहता हूँ।'

गौर-विग्रह पुरुष ने आगे कहा : 'और जो ये रक्तवर्ण पुरुष तुम्हारे सामने खड़े हैं ये मेरे पिता और तुम्हारे पितामह हैं। इन्होंने अपने पूर्व-जीवन में निर्दयतापूर्वक हिंसाप्रधान क्रूर राजस कर्म किये थे। उन कर्मों का फल यह हुआ कि इन्हें रक्त वर्ण मिला और अब तक इनका अवीचि नामक नरक में ही निवास रहा।'

अपना और रक्तवर्ण पुरुष का परिचय देने के बाद वह आगे कहने लगा : 'और ये कृष्ण-वर्णवाले महानुभाव इन रक्त-वर्णवाले पुरुष के पिता हैं अर्थात्

मेरे पितामह और तुम्हारे प्रपितामह। इनके कर्म तो और भी वीभत्स और तामस रहे। यहाँ तक कि इन्होंने जीवन में ईश्वर-परायण, निर्वैर और समदर्शी वृद्ध ऋषियों की भी हत्याएँ कीं। उन्हीं कर्मों के फलस्वरूप इन्हें यह भयानक रूप, कृष्ण वर्ण और तुम्हारे श्राद्ध करने तक अति निम्न लोक प्राप्त हुआ था।'

सबका परिचय देने के बाद प्रसन्न मुखमुद्रा के साथ पिता सित ने कहा : 'पुत्र ! आज तुमने इस गया क्षेत्र में अपने इन पितामह और प्रपितामह के निमित्त पिण्डदानादि श्राद्ध-कर्म किया और प्रचुर स्वर्ण-दक्षिणा दे वेदवित् ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया, इसी के प्रताप से ये लोग नरक-यातना से मुक्त हो मुझसे मिल सके। वत्स ! मुझे भी देवलोक में और तो सब सुख रहा, केवल एक स्वतन्त्रता नहीं थी। वहाँ सब मानव पुरुषों को स्वर्गीय देवताओं के अधीन रहना पड़ता है। तुमने अपने इन सुकृत्यों के प्रभाव से मुझे भी उस मानसिक कष्ट से मुक्त कर दिया। अब ये दोनों महानुभाव, जो अपने दुष्कर्मों के कारण नरक जैसी दुर्गति को प्राप्त हो चुके थे, तुम्हारे-गया श्राद्ध के बल से नरक से मुक्त हो गये हैं। अब मैं इन्हें साथ ले पितृलोक जा रहा हूँ, जहाँ हम लोग स्वतन्त्रतापूर्वक सर्व प्रकार के ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे।'

राजा विशाल तीनों के चरणों पर गिर पड़ा और पुनः मौन हो उनकी ओर देखने लगा। यह देख सित पुनः बोला : 'पुत्र, जानता हूँ, अभी भी तुम आश्चर्य में पड़े हो कि मेरा सदाचारी, धर्मात्मा पिता भी जब अपने पिता और पितामह को नरक से मुक्त न कर सका तो मेरे श्राद्ध-मात्र से इन सबकी मुक्ति कैसे हो गयी ! पर वत्स, यह ठीक है कि मेरा जीवन नितान्त निष्कलंक था और उसी के प्रताप से मुझे यह पद मिला। किन्तु मेरा यह विश्वास था कि कर्म का फल कर्ता को ही मिल सकता है, दूसरे को नहीं, अतः मैंने अपने पितरों के निमित्त कभी कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं किया। तब इन बेचारों के कष्ट कैसे कट सकते थे। तुमने हमारे निमित्त विधिवत् श्राद्धादि कर्मों का अनुष्ठान कर हमें विशाल पुण्य-पुञ्ज की सहायता पहुँचायी। फलतः हम लोग सब प्रकार के कष्टों से मुक्त हो गये। आज हम, तुम जैसे उपकारी और अन्वर्थक पुत्र को देखने के लिए ही यहाँ उपस्थित हुए हैं। हम पूर्ण सन्तुष्ट होकर तुम्हें हार्दिक आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हारी सभी अभिलाषाएँ पूर्ण हों। तुम्हारा प्रजातन्तु सदैव अखण्ड बना रहे। अब हम लोग पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव करने के लिए पितृलोक में प्रस्थान कर रहे हैं।'

महाराज विशाल के देखते-देखते तीनों पुरुष अन्तर्धान हो गये। कहना न होगा कि महाराज विशाल को पितरों की कृपा से पुत्र हुआ जो आगे चलकर अत्यन्त पराक्रमी सम्राट् बना।

सज्जनो,

कथा का भाव आप लोग समझ गये होंगे कि कोई कितना ही पुण्यात्मा क्यों न हो, जब तक पितरों के निमित्त से उनकी तृप्ति का साधन श्राद्धकर्म नहीं करता तब तक उसके पितर कभी तृप्त और मुक्त नहीं हो सकते। अपने पितरों की तृप्ति और मुक्ति का एकमात्र उपाय श्राद्ध ही है।

हाँ, तो आप भली भाँति समझ गये होंगे कि श्राद्ध से क्या लाभ होते हैं। अब संक्षेप में यह भी समझ लें कि श्राद्ध न करने से क्या हानि होती है।

पहले तो विशाल राजा की कथा ही श्राद्ध न करने से होनेवाली हानियों का संकेत दे देती है। उसके पवित्र सत्कर्मी पिता को भी श्राद्ध के बिना स्वर्ग में परतन्त्रता का अनुभव करना पड़ा। श्राद्ध न करने से ही उसके पूर्वज अब तक रौरव नरक में पलते रहे, उनका उद्धार नहीं हो पाया। इतना ही नहीं, आगे उसके कुल में सन्तति की धारा ही रुक गयी। जब राजा विशाल ने श्राद्ध, पिण्डदानादि कर्म किये तब कहीं ये सब आपदाएँ मिट सकीं।

दूसरी बात, श्राद्धों के अन्तर्गत कुछ तो नित्य भी बताये गये हैं जो नित्यकर्मों में आ जाते हैं। शास्त्रों का कहना है कि नित्य-कर्मों के न करने पर प्रत्यवाय या पाप लगता है। श्राद्ध से कतरानेवालों को यह विपद भी भोगनी पड़ेगी।

श्राद्ध न करने से सबसे बड़ी हानि 'कृतघ्नता' का कलंक है जो कभी धुल नहीं पाता। सर्वथा अपने जीवन के निर्माता पितरों के प्रति कृतज्ञता न दिखलाना और अपने कर्मों द्वारा हीन योनियों में उनके पलते रहते हुए भी श्राद्ध द्वारा उनका उद्धार न करना सबसे बड़ी कृतघ्नता है। पुत्र की पुत्रता तभी सार्थक होती है जब वह पितरों की पुं-नामक नरक से रक्षा करता है। शास्त्रों में बताया गया है कि 'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः' अर्थात् कृतघ्न के लिए कोई प्रायश्चित नहीं है। अतः हमें पितरों के इस श्राद्ध-कृत्य से कभी प्रमाद न करना चाहिए।

आप कह सकते हैं कि यह तो पुराण-धर्मशास्त्रों की और युक्तियों एवं उदाहरणों के आधार पर श्राद्ध की अवश्य-कर्तव्यता बतलायी गई। हमारे मूल आधार वेदों में क्या कहीं श्राद्ध का विधान नहीं आता?

भाई, वेदों में तो श्राद्धकर्म और उसके रहस्य का इतना अधिक वर्णन है कि केवल उसको संक्षेप में बतलाने के लिए दो-चार व्याख्यान देने पड़ेंगे। ऋग्वेद में तो एक पूरा सूक्त ही 'पितृसूक्त' नाम से आता है जिसके १४ मन्त्र हैं (मण्डल १० सूक्त १)। फिर शुक्ल यजुर्वेद की तो बात ही न पूछें! लगता है सारी संहिता का श्राद्ध में ही तात्पर्य है। कारण, उपक्रम में उसके दूसरे अध्याय में २९ से ३४ तक ६ कण्डिकाएँ पिण्ड पितृयज्ञ की हैं तथा तीसरे अध्याय की ५१-५२ कण्डिकाएँ शाकमेधीय पितृयज्ञ की हैं।[1] परामर्श, उपक्रान्त के मध्यनिर्देश के तौर पर १९वें अध्याय में १३ कण्डिकाएँ (४९ से ६१ तक) पितृयज्ञ की प्रतिपादक हैं। अन्त में उपसंहार में पितृमेध के प्रतिपादक ३५वें अध्याय[2] की सारी २२ कण्डिकाओं में पितृतत्त्व ही वर्णित है। क्या यह वेदों में श्राद्ध का, पितृयज्ञ का कम वर्णन कहा जायगा ?

यही कारण है कि प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेदवेत्ता मैक्समूलर ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'वेदों में जितना बल श्राद्ध पर दिया गया है उतना अन्य किसी विषय पर नहीं। कहाँ तक कहें, वेद-विश्वासी पुरुष कभी श्राद्ध को अस्वीकृत नहीं कर सकता।' ज्ञातव्य है कि वजीराबाद में वेद को आधार मानकर 'मृतक श्राद्ध' विषय पर दो पक्षों के बीच एक उल्लेख्य लिखित शास्त्रार्थ हुआ था जिसके मध्यस्थ मैक्समूलर माने गये थे। लिखित शास्त्रार्थ उनके पास भिजवाया गया, जिस पर निर्णय देते हुए उन्होंने उपर्युक्त शब्द लिखे थे।

अस्तु, अब हम कतिपय ऐसे वेदमन्त्र सुनाते हैं जिनसे आपको विदित हो जायगा कि वेदों में श्राद्धकर्म को कितना गौरव दिया गया है। लीजिये, पहले ऋग्वेद का एक मन्त्र, जो श्राद्ध के समय निमन्त्रित (आहूत) पितरों को नमस्कार करते हुए कहा जाता है :

इदं पितृभ्यो नमोऽस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥[3]
(ऋ० १०-१५-२; शु०यजुः० १९-६८; कृ० यजुः० २-६-१९-९)

---

१. 'द्वाभ्यामैन्द्रीभ्यां पंक्तिभ्यां पितृयज्ञे पितर उच्यन्ते' इति उव्वटः।

२. 'अस्य अध्यायस्य पितरो देवताः' इति महीधरः।

३. भाष्य : ये पूर्वासः = पूर्वे पितरः, ईयुः = स्वर्गं प्राप्ताः, ये च उपरासः = उपरतव्यापाराः कृतकृत्याः सन्तः परं प्राप्ताः, यद्वा ये पूर्वासः = यजमानोत्पत्ते पूर्वमेव उत्पन्ना ज्येष्ठभ्रातृपितृपितामहादयः, ये च उपरासः = यजमान-

अर्थात् हम आज प्रारंभ किये हुए इस पितृयज्ञ में आहुति देकर उन सभी पितरों को प्रणाम करते हैं जो स्वर्ग चले गये हैं और जो सभी व्यापारों से उपरत, कृतकृत्य हो मुक्त हो गये हैं, अथवा जो हमसे पहले उत्पन्न हुए हैं अर्थात् जो हमारे ज्येष्ठ भ्राता, माता, पिता, पितामहादि पितर बन गये हैं, जो हमसे पश्चात् उत्पन्न हुए हैं अर्थात् जो कनिष्ठ भ्राता, पुत्र आदि मरकर पितृलोक में चले गये हैं, जो पृथिवी-सम्बन्धी रजोगुणयुक्त इस पितृयज्ञ में अदृश्य रूप से हविर्द्रव्य ग्रहण करने के लिए उपस्थित हैं और जो श्राद्ध-कर्म में निष्ठा रखनेवाले बन्धुवर्गों के बीच निश्चय ही श्राद्ध के स्वीकारार्थ सहर्ष समागत हैं।

पूर्व मन्त्र में यजमान सभी पितरों को केवल नमस्कार करता है। अब इस मन्त्र को देखें जिसमें वह उनसे धन-धान्य, पुत्रादि की माँग भी करने लगता है। इसमें श्राद्ध के विधान की एक झलक भी है :

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः।
> अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन[1]॥
> (ऋ० १०-१५-११; कृ० यजुः० २-६-१२-५)

अर्थात् 'हे अग्निष्वात्ता (अग्नि से आस्वादित, दग्ध या अग्निष्वात्ता नाम के) पितरो, आप इस पितृयज्ञ में पधारें और पूजित हो अपने-अपने स्थान पर

जन्मन उपर्युत्पन्नाः कनिष्ठभ्रातृस्वपुत्रादयः, ईयुः = पितृलोकं प्राप्ताः, येऽप्यन्ये पार्थिवे रजसि = पृथिवीसम्बन्धिनि रजोगुणकार्ये, अस्मिन् पितृयज्ञाख्ये कर्मणि, आनिषत्ताः = हविः स्वीकर्तुमागत्य उपविष्टाः, ये वा सुवृजनासु = धनसमृद्ध्या श्राद्धादिकर्मपरासु, विक्षु = बन्धुरूपासु प्रजासु, नूनम् = निश्चयेन, आनिषत्ताः = श्राद्धादिस्वीकाराय आगत्य उपविष्टाः, तेभ्यः सर्वेभ्यः पितृभ्यः, अद्य = अस्मिन् पितृयज्ञाख्ये कर्मणि, नमोऽस्तु = अयमाहुतिप्रदानपूर्वको नमस्कारो भवतु।

१. भाष्य : हे अग्निष्वात्ताः = अग्निना आस्वादिता वा अग्निष्वात्तनामानः, पितरः यूयम् इह = अस्मिन्पितृयज्ञाख्ये कर्मणि, आगच्छत, आगत्य च सुप्रणीतयः = अभिपूजितप्रणयनाः सन्तः, सदः सदः = स्व-स्वस्थानं सदत = यथेष्टमुपविशत, उपविश्य च बर्हिषि = बर्हिषु = कुशेषु, स्थापितानि प्रयतानि = शुचीनि हवींषि, अत्ता = अत्त भक्षयत, अथ च सर्वैः वीरैः पुत्रैरुपेतम्, रयिम् = धनं च, दधातन = अस्मभ्यं दत्त।

यथेच्छ बैठ जायें। फिर कुशों पर रखे हुए पवित्र हवि को खायें और हमें सर्वश्रेष्ठ वीर पुत्रों सहित धन-धान्य प्रदान करें।' वेद के शब्दों में आप श्राद्ध का इससे अधिक क्या विधान चाहते हैं ?

एक मन्त्र यह लें, जिसमें यजमान अग्निदेव से प्रार्थना करता है कि आप हमारे पितरों को सुन्दर, सक्षम शरीर दें :

[1]येऽग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभिः स्वराड सुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व[2] ॥
(ऋ० १०-१५-१४, यजुः० १९-६०)

अर्थात् हे जाज्वल्यमान अग्निदेव, हमारे उन सभी पितरों को, जिनका अन्त्येष्टि संस्कार हो चुका है, जिनका किसी कारणवश अन्त्येष्टि संस्कार नहीं हो पाया और जो अन्तरिक्ष या स्वर्ग में स्वधा (मन्त्र-संस्कृत अन्न) पाकर तृप्त हो विचर रहे हैं, आप प्राणों से युक्त और हविर्द्रव्य के भक्षण योग्य शरीर प्राप्त करा दें, जिससे वे यहाँ आकर यथेष्ट हवि भक्षण कर सकें।

वेद का यह बड़ा ही अद्भुत मन्त्र है जिसमें संसार के समस्त पितरों को हविर्ग्रहणार्थ बुलाने के लिए अग्नि से प्रार्थना की गयी है :

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितन् हविषे अत्तवे ॥
(अथर्व० १८-२-३४)

अर्थात् हे अग्ने, हमारे उन सभी पितरों को हवि भक्षण करने के लिए यहाँ बुलाओ जो भूमि में गाड़ दिये गये हैं, जो नदी में प्रवाहित किये गये हैं, जो

---

१. भाष्य : ये अग्निदग्धाः = श्मशानं प्राप्ताः, ये च अनग्निदग्धाः = श्मशान-कर्म न प्राप्ताः, ये च दिवः = द्युलोकस्य, मध्ये, स्वधया मादयन्ते = तृप्ताश्चरन्ति, हे स्वराट् = दीप्यमान अग्ने, तैः = पितृभिः, तेभ्यः = पितृभ्यः, असुनीतिम् = प्राणयुक्ताम्, एताम् = भक्षणयोग्यां तनूम्, यथावशम् = यथाकामं त्वं कल्पयस्व = सम्पादय।

२. शुक्ल यजुर्वेद संहिता में इस मन्त्र के 'अग्नि-दग्धा' के स्थान पर 'अग्निष्वात्ता', 'अनग्निदग्धा' के स्थान पर 'अनग्निष्वात्ता' और 'कल्पयस्व' के स्थान पर 'कल्पयाति' पाठ है। साथ ही 'स्वराट्' शब्द का अर्थ यम किया गया है ('स्वराट् स्वेनैव राजते स्वराट् यमः' इति महीधरः)।

अग्नि में जलाये गये हैं और जो पृथ्वी में गाड़े जाने के बाद किसी कारण निकालकर पुनः जलाये गये हैं।

एक और अति प्रसिद्ध मन्त्र सुनें जिसमें श्राद्धीय अन्न के ग्रहणपूर्वक पितरों से रक्षा की प्रार्थना की गयी है :

आयन्तु नः पितरः सोम्यासो अग्निष्वात्ता पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥
(शु० यजुः० १९-५८)

अर्थात् सोमपान के योग्य अथवा सोमतत्त्वप्रधान और अग्निष्वात्ता (अग्नि के द्वारा जलाये गये) हमारे पितर देवयान मार्ग से (देवताओं के साथ जिस मार्ग से पितर स्वर्ग से पृथिवी की ओर जाते हैं, उस मार्ग से) यहाँ आयें और श्राद्धीय अन्न ग्रहण कर तृप्त हों, वे हमें अधिक होने का, समृद्ध होने का आशीर्वाद दें और हमारी रक्षा करें।

सज्जनो,

आप लोग देखेंगे कि ये मन्त्र कितने स्पष्ट शब्दों में श्राद्ध-विधान का समर्थन करते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि ये मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद (शुक्ल और कृष्ण) और अथर्ववेद तीनों वेदों से उद्धृत किये गये हैं। सामवेदीय मन्त्र ब्राह्मण (प्रपा० २ खण्ड ३) में तो 'स्वाहा सोमाय पितृमते' आदि १९ मन्त्रों से श्राद्धकर्म का निरूपण किया गया है। इस तरह चारों वेदों से प्रस्तुत श्राद्ध विधान सुपुष्ट हो जाता है। वैसे तो श्रौत-सूत्रों में साङ्ग-पिण्ड-पितृयज्ञ की पद्धति बतायी गयी है। किन्तु यहाँ हमने आप लोगों को प्रत्यक्ष वेद-मन्त्र सुनाये जिससे यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि यह श्राद्धकृत्य मूलतः वेदों से अंकुरित हो श्रौतसूत्र, धर्म-शास्त्र, पुराणादि में महच्छाय वृक्ष के रूप में विकसित हुआ है।

ज्ञातव्य है कि संसार में भारत ही ऐसा देश है जहाँ सामान्य से सामान्य उपकर्ता के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त की जाती रही और आज भी की जाती है। दूसरे शब्दों में कृतज्ञता भारतीय संस्कृति का नैसर्गिक, प्रधानतम, प्रशंसनीय एवं समादरणीय सद्गुण है। उस भारत की सन्तान उन माता-पितरों के प्रति, जिन्होंने हमें जन्म दिया, लालन-पालन कर व्यवहार-क्षम बनाया और अपने गाढ़े पसीने की कमायी सम्पत्ति भी सौंप गये, कृतज्ञता प्रकट करने में कैसे चूक सकती है !

सज्जनो,

निश्चय ही अब आप समझ गये होंगे कि श्राद्ध किसी प्रकार की कपोल कल्पना, बिगड़े दिमागों की सनक या कतिपय स्वार्थ-साधकों का उदरम्भरी व्यापार नहीं, प्रत्युत वेद, पुराण, धर्मशास्त्र और युक्तियाँ—सभी एक स्वर से मानव को सचेत करती हैं कि जीवन के इस अनुपेक्षणीय पितृकर्म से वह कभी प्रमाद न करे। वेद, शास्त्र सभी ने श्राद्धतत्त्व के अनेक गूढ़ तत्त्वों को प्रकाश में लाकर स्पष्ट दिखला दिया है कि इसके करने से जीवन में तुम्हारा भला है और न करने पर कौन-सी गति पाओगे, कहा नहीं जा सकता।

इतने सारे सुपुष्ट प्रमाण देख भ्रान्तमति, अतएव निष्कारण श्राद्ध प्रथा के विरोधियों की छाती पर सांप लोटने लगता है। वे खीझ-से उठते हैं और स्वयं पुराणों को न मानते हुए भी पुराण की एक कथा का प्रमाण देकर श्राद्ध प्रथा पर प्रहार करने का विफल प्रयास करने लगते हैं। इस व्याख्यान को पूर्ण करने से पूर्व इस मायाजाल से बचने के लिए हम आप लोगों को यह बता देना चाहते हैं कि किस तरह वे उस कथा को लेकर आँखों में धूल झोंकने का प्रयास करते हैं, उस कथा का रहस्य क्या है और किस प्रकार वास्तव में वह कथा श्राद्ध की बाधक नहीं अपितु साधक ही है।

भावुक धार्मिक माताएँ भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी का व्रत करती होंगी, जो 'ऋषिपञ्चमी-व्रत' कहलाता है। यह उसी व्रत की कथा है। ज्ञातव्य है कि जैसे यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण-सम्बन्धी नियमों के पालन में वर्षभर होनेवाले किन्हीं ज्ञात-अज्ञात प्रमादों का प्रायश्चित्त श्रावणी पूर्णिमा को किये जानेवाले 'उपाकर्म' नामक कर्म से हो जाता है, वैसे ही ज्ञात-अज्ञात रूप में रजस्वला-नियमों के पालन में वर्षभर में हुए प्रमादों के प्रायश्चित्तस्वरूप स्त्रियों के लिए यह व्रत बताया गया है जिसमें सप्त-ऋषिपूजन प्रमुख है।

इस ऋषिपञ्चमी-व्रत की कथा में बताया गया है कि एक ब्राह्मण के माता-पिता मरकर क्रमशः कुतिया और बैल बने और उसी के घर में आ बसे। एक दिन ब्राह्मण के घर उसके पिता का श्राद्ध था। ब्राह्मणी ने खीर पकायी तो कुतिया ने धीरे से जाकर उसे मुँह लगा दिया। ब्राह्मणी के क्रोध का ठिकाना न रहा। उसने डंडे से उसकी खूब मरम्मत की और नया दूध आदि मंगाकर फिर खीर बनायी। तब कहीं दिया लगने पर श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मणों को अन्न मिल पाया। इस झमेले में ब्राह्मण बैल को भी घास की सानी खिलाना भूल गया। जब रात को कुतिया बैल के पास आकर रो-रोकर अपनी राम-

कहानी सुनाने लगी तो वृषभ देव ने भी बताया कि 'अरी, मैं भी भूखा रह गया !'

बस प्रतिपक्षियों को यही एक बात मिल जाती है और इसे लेकर वे कहते हैं कि श्राद्ध के समय पितरों के आने और कव्य खाने की बात एकदम झूठ है। आप लोग भी थोड़ी देर के लिए चक्कर में पड़ जायेंगे और कहेंगे कि बात तो ठीक है। ब्राह्मण के श्राद्ध में माता-पिता का आना और भोजन पाकर तृप्त होना तो दूर रहा, उस दिन प्रत्यक्ष घर में उपस्थित माता पर डंडे बरसे ! उसकी निर्जला तो हो ही गयी, पिताश्री को भी शिवरात्रि मनानी पड़ी। बड़ी बेतुकी-सी बात लगती है !

पर नहीं, पूरी कथा पर ध्यान दें तो समझ में आ जायगा कि यह कथा शास्त्रविधि से विरुद्ध श्राद्ध करने का ही उदाहरण है। कैसे ? देखिये :

उस कथा में बताया गया है कि ये कुतिया और बैल पूर्वजन्म में ब्राह्मण दम्पती थे। ब्राह्मण के पिता के श्राद्ध के दिन संयोगवश ब्राह्मणी रजस्वला हो गयी। फिर भी उसने अपनी अशुचिता छिपाकर रसोई पकाई और श्राद्धीय ब्राह्मणों को खिलाया। ब्राह्मण देवता को भी इसका पता चल गया, फिर भी वे कन्नी काट गये। इस तरह शास्त्रविरुद्ध श्राद्ध करने का दुष्परिणाम दोनों को मिला और वे दूसरे जन्म में कुतिया और बैल बनकर अपने पुत्र की अधीनता में पड़ गये। अपने ही श्राद्ध के दिन मिष्टान्न तो क्या, रूखा-सूखा रोज का खाना भी न मिला। मार ऊपर से पड़ी।

कुतिया भी जिह्वा-लौल्य से क्षीर खाने नहीं गयी थी। ब्राह्मणी की अनुपस्थिति में उसने प्रत्यक्ष देख लिया था कि उधर से एक साँप ने आकर उसमें मुँह लगा दिया। वह खीर- खाकर ब्राह्मण मर न जायें, इसी हेतु कुतिया ने उस पात्र को मुँह लगा दिया। इस तरह बेचारी भला ही करने गयी थी। पर चूँकि उसने पूर्वजन्म में रजस्वला-नियम के पालन में प्रमाद किया और श्राद्धघात किया था, इसलिए आज के दिन प्रत्यक्ष अपराधिनी होने से उस पर मार ही पड़ी, जब कि मौन स्वीकृति के अपराधी बैल को केवल भूखा ही रहना पड़ा।

फिर, इतने सारे प्रपंच में श्राद्धीय ब्राह्मण को खिलाने का मौका दिया लगने के बाद आया जो प्रत्यक्ष रात्रिश्राद्ध था, जिसका शास्त्रों में स्पष्ट निषेध है। इस तरह ब्राह्मण-पुत्र का वह श्राद्ध भी अविधियुक्त था।

सिवा इसके श्राद्ध के दिन क्रोध न करना, पवित्र रहना, ब्रह्मचर्य रखना आदि श्राद्धकर्ता और श्राद्धभोजी दोनों के लिए आवश्यक बताया गया है,

जैसा कि श्राद्धकृत्य के समय श्राद्धकर्ता द्वारा कहे जानेवाले इस श्लोक से स्पष्ट है :

अक्रोधनैः शौचपरैः सततं ब्रह्मचारिभिः ।
भवितव्यं भवद्भिश्च मया च श्राद्धकारिणा ॥

फिर आज तो ब्राह्मण-ब्राह्मणी दोनों रुद्रावतार बन गये थे । इस प्रकार भी ब्राह्मण-पुत्र का वह श्राद्ध विधि-विरहित था । यही कारण था कि ऐसे विधि-विरहित श्राद्ध के अवसर पर पितृलोक से उसके पितामहादि पितर किसी भी रूप में नहीं आये और उन्होंने वह 'कव्य' ग्रहण नहीं किया तथा इसीलिए पूर्वजन्म के पापवश कुतिया और बैल की योनियों में उत्पन्न, घर में ही उपस्थित माता-पिता को भी उस श्राद्ध का उस योनि के अनुरूप भोग्य रूप में लाभ न मिल सका ।

सज्जनो,

यह कथा डिण्डिम-घोष के साथ बता रही है कि 'भारतीयो, पितरों का श्राद्ध अवश्य करो, उसके करने में कभी प्रमाद या उपेक्षा न करो और शास्त्रों में जैसी उसकी विधि बतलायी गयी है, ठीक-ठीक वैसे ही करो, तभी अपने पितरों का उद्धार कर सकोगे, उनका कृपा-प्रसाद पा सकोगे और उसके फल-स्वरूप इहलोक तथा परलोक में सभी प्रकार के सुख के भागी बनोगे । यदि इसके विपरीत पितरों का तर्पण-श्राद्धादि न किया और किया भी तो विधि-विरहित या मनमाने ढंग से किया तो याद रखो, 'चौबे जी छब्बे बनने गये, पर दुबे बनकर आये' यही आपकी दशा होगी !

[२० अक्तूबर, १९३९]

४

महालय-श्राद्ध-मीमांसा

सज्जनो,

पिछले प्रवचन में श्राद्ध के सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया और बतलाया गया कि श्राद्धकृत्य सर्वथा वेद-शास्त्र, पुराण, धर्म-शास्त्र सभी से अनुमोदित है। अब आज यह बतलाया जायगा कि विशेषकर आश्विन के कृष्णपक्ष में ही पितरों को क्यों पूजा जाता है। इन्हीं १५-१६ दिनों में लगातार पितृ-श्राद्ध क्यों चलते हैं और इन्हें 'महालय' क्यों कहा जाता है। पर इसे समझने के लिए यह जानना आवश्यक होगा कि सामान्यतः श्राद्ध कब-कब किया जाता है। देखिये :

किन-किन अवसरों पर श्राद्ध करना चाहिए, इसे गिनाते हुए योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं :

अमावास्याऽष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम्।
द्रव्यं ब्राह्मणसम्पत्तिर्विषुवत्सूर्यसंक्रमः॥
व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः।
श्राद्धं प्रतिरुचिश्चैव श्राद्धकालाः प्रकीर्तिताः॥

(या० स्मृ० आचा० २१७-१८)

अर्थात् अमावास्या, अष्टका, वृद्धि, कृष्णपक्ष, दोनों अयन (उत्तरायण और दक्षिणायन), द्रव्य, ब्राह्मण-सम्पत्ति, विषुवत्, सूर्य-संक्रान्तियाँ, व्यतीपात, गजच्छाया, चन्द्र और सूर्य के ग्रहण, श्राद्ध के प्रति रुचि—ये १३ श्राद्ध के सामान्य काल बताये गये हैं।

इनमें अमावास्या अर्थात् कृष्णपक्ष की अन्तिम तिथि तो प्रसिद्ध ही है। वेदशास्त्रानुयायी आस्तिकों के यहाँ प्रतिमास अमावास्या को दर्शश्राद्ध चलता ही है।

'अष्टका' मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की सप्तमी, अष्टमी और नवमी तीन तिथियों की विशेष संज्ञा है। चारों महीनों की इन तीनों तिथियों में श्राद्ध करना चाहिए। इसे 'अष्टका-श्राद्ध' कहते हैं।

तीसरे वृद्धि-श्राद्ध का नामान्तर है आभ्युदयिक श्राद्ध। अर्थात् जब अपने घर में कोई वृद्धि या मंगल कार्य हो तो उससे पूर्व पितरों के तृप्त्यर्थ किये जानेवाले श्राद्ध को 'वृद्धि-श्राद्ध' या 'आभ्युदयिक श्राद्ध' कहते हैं। वृद्ध वसिष्ठ और जाबालि मुनि के वचनानुसार[1] ये वृद्धिश्राद्ध पुत्रजन्म, विवाह, प्रतिष्ठा, यज्ञ, मेखला-बन्धन और उसके विमोचन तथा वृषोत्सर्ग के अवसर पर करने चाहिए। इस वृद्धिश्राद्ध के पितरों का नाम 'नान्दीमुख' है इसलिए बहुत-से लोग इसे 'नान्दीश्राद्ध' भी कहते हैं।

सभी महीनों के कृष्णपक्ष भी श्राद्ध के सामान्य काल माने गये हैं।

अयन का तात्पर्य उत्तरायण और दक्षिणायन अर्थात् सूर्य की कर्कसंक्रान्ति और मकरसंक्रान्ति के प्रारम्भ के दिन से है। ये प्रायः श्रावण और माघ में पड़ते हैं। ज्ञातव्य है कि ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वर्ष को दो भागों में बाँटा गया है; दक्षिणायन और उत्तरायण। सूर्य की १२ संक्रान्तियों में कर्क-संक्रान्ति से धनु-संक्रान्ति के अन्त तक दक्षिणायन और मकर-संक्रान्ति से मिथुन-संक्रान्ति के अन्त तक उत्तरायण होता है। इन दोनों संक्रान्तियों के दिन श्राद्ध करना चाहिये।

'द्रव्य' का अर्थ यह है कि जिस दिन चावल, कृशर, घृत, दुग्ध आदि द्रव्यों की विपुल प्राप्ति हो जाय, उस दिन भी श्राद्ध करना चाहिए।

'ब्राह्मण-सम्पत्ति' का तात्पर्य सदाचारी, विद्वान् वैदिक ब्राह्मण के घर पहुँचने से है। ऐसे समय भी श्राद्ध का विधान है।

'विषुवत्' मेष और तुला संक्रान्ति का नाम है, जैसा कि वृद्ध वसिष्ठ ने कहा है : 'विषुवद् द्वे तुलामेषौ।' इस अवसर पर भी श्राद्ध करणीय है।

---

१. 'पुत्रजन्मविवाहादौ वृद्धिश्राद्धमुदाहृतम्।' (वृद्धवसिष्ठ)
'यज्ञोद्वाहप्रतिष्ठासु मेखलाबन्धमोक्षयोः।
पुत्रजन्मवृषोत्सर्गे वृद्धिश्राद्धं समाचरेत्॥' जाबालि)

'सूर्य-संक्रान्ति' प्रसिद्ध है। वर्ष में सूर्य की मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन—ये १२ संक्रान्तियाँ होती हैं। इनके प्रारम्भ के दिन भी श्राद्धकाल में परिगणित हैं।

'व्यतीपात' एक योग है। जिस दिन यह योग पड़े उस दिन भी श्राद्ध का विधान है। वृद्ध मनु ने 'व्यतीपात' एक विशेष योगयुक्त अमावास्या की संज्ञा मानी है, जो रविवार के दिन पड़े और जिस दिन अश्विनी, मृगशिरा (मस्तक), आर्द्रा, आश्लेषा (नागदेवत), श्रवण और धनिष्ठा इनमें से कोई एक नक्षत्र हो।[1] यह भी श्राद्धीय दिन है।

'गजच्छाया' योग भी श्राद्ध का अन्यतम काल है। 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' में उद्धृत वचनानुसार[2] यह योग उस त्रयोदशी के दिन होता है जब सूर्य हस्त नक्षत्र पर और चन्द्र मघा नक्षत्र पर हो। बौधायन तो इन्हीं नक्षत्रों पर सूर्य-चन्द्र के रहते जो अमावास्या आती है उसी को 'गजच्छाया' कहते हैं।[3] अन्य कई वचनों में प्रसिद्ध हाथी के छायारूप देश-विशेष को 'गजच्छाया' कहा गया है। पर प्रकृत में काल का प्रकरण होने से वह अनुपयुक्त है।

चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण तो प्रसिद्ध ही हैं। शास्त्रों ने उस समय भी श्राद्ध का विधान किया है। वह भी स्पर्श-काल में ही, कारण, वृद्ध वसिष्ठ ने यही पितरों की तृप्ति का काल बताया है।[4] यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि ग्रहण-काल में तो सूतक माना जाता है, तब स्पर्श के समय श्राद्ध और तदङ्ग ब्राह्मण-भोजन कैसे हो सकता है, क्योंकि ऐसे समय आमश्राद्ध ही विहित है अर्थात् कच्चा अन्न (सीधा) ब्राह्मणों को दिया जाता है।[5]

---

१. श्रवणाश्विधनिष्ठार्द्रा-नागदेवतमस्तकैः।
यद्यमा रविवारेण व्यतीपातः स उच्यते॥

२. यदेन्दुः पितृदेवत्ये हंसश्चैव करे स्थितः।
तिथिर्वैश्रवणी या च गजच्छायेति सा स्मृता॥ (स्कन्दपुराण)

३. हंसे हंसस्थिते या तु अमावास्या कराान्विता।
सा ज्ञेया कुञ्जरच्छायेत्येवं बौधायनोऽब्रवीत्॥

४. त्रिदशाः स्पर्शसमये तृप्यन्ति पितरस्तथा।
मनुष्या मध्यकाले तु मोक्षकाले तु राक्षसाः॥

५. आपद्यनग्नौ तीर्थे च ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
आमश्राद्धं द्विजैः कार्यं शूद्रेण तु सदैव हि॥

श्राद्ध का अन्तिम सामान्य काल है 'श्राद्ध के प्रति रुचि'। अर्थात् जिस दिन श्राद्धकर्ता की प्रबल भावना हो जाय कि आज पितरों का श्राद्ध करना ही है, वह दिन भी शास्त्रकारों ने श्राद्ध के सामान्य काल में परिगणित कर लिया है। कारण, अन्ततः यह सारा कृत्य भक्ति-श्राद्ध की भावना का ही तो है। इसके अतिरिक्त मन्वादि-युगादि तिथियाँ भी श्राद्धकाल में परिगणित हैं, पर सामान्यतः ये १३ काल विशेष प्रसिद्ध हैं।

सज्जनो,

श्राद्ध का यह सामान्य काल समझ लेने के बाद अब आपकी इस चिर-प्रतीक्षित शङ्का का समाधान किया जा रहा है कि आश्विन कृष्ण पक्ष में ही विशेष रूप से पितरों का श्राद्ध क्यों किया जाता है। इसे आप एक उदाहरण द्वारा समझें :

कल्पना करें कि आपका कोई मित्र अहमदाबाद में किसी बड़े पद पर है। उस समय आप उससे अपना कोई काम करवा सकते हैं और करा भी लेते हैं। पर यदि आपके उस मित्र की अहमदाबाद से बदली हो जाय और उसके स्थान पर अन्य कोई अधिकारी आ जाय तो क्या उससे आप पहिले की भाँति अपना काम निकाल सकते हैं? हम तो समझते हैं नहीं। कारण, वह अधिकारी आपका परिचित नहीं है। आप उसके पास अपने मित्र की सिफारिश भी ले जायें, तब भी आपका काम बन जायगा, इसका क्या भरोसा? पहले तो वह आपके मित्र का परिचित होगा या नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता। परिचित होने पर भी सम्भव है कि आपका मित्र ऐसी किसी बात के लिए लिखना अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप न माने। फिर, क्षणभर मान लें कि वह लिख भी दे, तो भी यह नया अधिकारी उसे मान लेगा, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कारण, यह तो उसकी इच्छा पर निर्भर है।

ठीक यही उदाहरण प्रकृत प्रसंग में भी घटता है। देखिये : उत्तरायण में प्रधानतया देवों की ही चलती है। दूसरे शब्दों में उत्तरायण में देवों का राज्य होता है, जब कि दक्षिणायन में 'दक्षिणाप्रवणो वै पितृलोकः' (शतपथ १३-८-४-७) के अनुसार पितरों की प्रधानता होती है, पितरों का राज्य होता है। महर्षि जैमिनि ने :

उदगयनपूर्वपक्षाहःपूर्वाह्णेषु दैवानि। (६।८)

इस सूत्र से उत्तरायण, शुक्लपक्ष और पूर्वाह्ण में देवकार्यों का विधान कर :

इतरेषु पित्र्याणि। (जैमिनीय दर्शन)

उससे इतर में अर्थात् दक्षिणायन, कृष्णपक्ष और अपराह्न में पितृकृत्य का काल निर्धारित किया है। अब यदि हम उत्तरायण, शुक्लपक्ष और पूर्वाह्न, जो पितरों का राज्य-काल न होकर देवताओं का राज्य-काल है, में श्राद्धकृत्य करें तो हमारा श्राद्ध में पितरों को समर्पित अन्न उनके पास पहुँचाना या न पहुँचाना देवताओं की इच्छा पर निर्भर रहेगा। पितरों का राज्य होता, पितर उस काल के अधिकारी होते तो उनके पास सहज ही वह पहुँच जाता। पर अब तो देवों की सिफारिश करने की आवश्यकता पड़ेगी और कदाचित् वे उसे न भी मानें। सारांश, पितरों के राज्यकाल में उनके लिए कोई कार्य करने पर उसको उनके पास पहुँचने में विलम्ब नहीं लगता। इसीलिए दक्षिणायन, कृष्णपक्ष और अपराह्न काल उनके श्राद्ध के लिए सर्वोत्तम समय है।

अब आप कहें कि इस तरह दक्षिणायन और कृष्णपक्ष तो पितरों के लिए करणीय कृत्य का काल सिद्ध हो गया। पर ऐसे तो ६ पक्ष मिलेंगे। फिर आश्विन के कृष्णपक्ष का ही इतना आग्रह क्यों ? ठीक है, इन ६ पक्षों में भी आश्विन कृष्णपक्ष का महत्व सबसे अधिक है। इसके लिए हमारे पास कई युक्तियाँ और प्रमाण हैं, देखें :

(१) पीछे हम बता आये हैं कि 'गजच्छाया' योग श्राद्ध के कालों में एक स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण अवसर के रूप में लिया गया है। आप भूले न होंगे कि जिस त्रयोदशी को सूर्य हस्त नक्षत्र पर और चन्द्रमा मघा नक्षत्र पर हो उस दिन 'गजच्छाया' योग होता है। बस, आश्विन के कृष्णपक्ष में ही विशेष रूप से श्राद्ध करने के विधान की यही योग पुष्टि कर देता है। कारण, यह योग आश्विन कृष्ण की त्रयोदशी को ही होता है, अन्यदा कभी नहीं।

(२) यह केवल हमारी ही युक्ति नहीं, वृद्ध मनु की यह उक्ति भी इसमें प्रमाण है :

नभस्यस्यापरः पक्षो यत्र कन्यां व्रजेद् रविः।
स महालयसंज्ञः स्याद् गजच्छायाह्वयस्तथा॥

अर्थात् भाद्रपद मास का कृष्णपक्ष, जिसमें सूर्य कन्या राशि पर रहता है, 'महालय' और 'गजच्छाया' कहा जाता है। ज्ञातव्य है कि मनु के इस वचन में 'भाद्रपद कृष्ण' का उल्लेख अमान्त मास मान से किया गया है। पूर्णिमान्त मास मान से वही आश्विन कृष्णपक्ष हो जाता है। प्रसिद्ध है कि महाराष्ट्र, गुजरात आदि में जिसे भाद्रपद कृष्णपक्ष कहा जाता है, वही पञ्जाब, उत्तर प्रदेश आदि में आश्विन कृष्णपक्ष होता है। इससे कोई अन्तर नहीं आता।

(३) इतना ही नहीं, मनु का एक अन्य वचन भी आश्विन कृष्णपक्ष की पितृपक्षता की पुष्टि करता है। लीजिए वह श्लोक :

यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात् तु त्रयोदशीम् ।
तदप्यक्षयमेव स्याद् वर्षासु च मघासु च ॥
(मनुस्मृति ३।२७३)

अर्थात् वर्षाऋतु में मघा नक्षत्र से युक्त त्रयोदशी के दिन मधु से मिश्रित जो कुछ भी पितरों को दिया जाता है वह अक्षय फलप्रद हो जाता है। ध्यान रहे कि यह वर्षाकालीन मघानक्षत्रयुक्त त्रयोदशी आश्विन मास क कृष्णपक्ष में ही आती है।

(४) यही क्यों, कतिपय वैदिक मन्त्र भी हमें आश्विन कृष्णपक्ष को पितरों का पक्ष मानने की प्रेरणा देते हैं। मघा-श्राद्ध के प्रसंग में वे कहते हैं :

उपहूताः पितरो ये मघासु मनोजवसः सुकृतः सुकृत्याः ।
ते नो नक्षत्रे हवमागमिष्ठाः स्वधाभिर्यज्ञं प्रयतं जुषन्ताम् ॥
(पुरोनुवाक्या, ६)

अर्थात् 'जो मन-जैसे वेगवान् और शुभ-कर्म करने में समर्थ हैं तथा शोभन कर्म करनेवाले भी हैं, इस मघा नक्षत्र में आहूत (निमन्त्रित) वे पितर हमारे यज्ञ में पधारें और पितृप्रिय, मन्त्रसंस्कृत पवित्र अन्न के द्वारा इस यज्ञ का सेवन करें।' इसी प्रकार अन्य भी एक मन्त्र है :

येऽग्निदग्धा ये नाग्निदग्धा येऽमुं लोकं पितरः क्षियन्ति ।
यांश्च विद्म यां उ च न प्रविद्म मघासु यज्ञं सुकृतं जुषन्ताम् ॥
(तै० ब्रा० ३।१०।१, याज्या)

अर्थात् वे सभी पितर इस मघा नक्षत्र में आकर हमारे यज्ञ का सेवन करें, जो अग्नि से दग्ध हैं, जो अनग्निदग्ध हैं, जो स्वर्गलोक में निवास करते हैं, जिन्हें हम जानते हैं या जिन्हें हम जानते भी नहीं हैं।

ध्यान देने की बात है कि इन मन्त्रों में जिस मघा नक्षत्र में पितरों के आवाहन का विधान है वह आश्विन कृष्णपक्ष के मघा नक्षत्र को ही लक्ष्य करके होना चाहिए, यह आप सहज ही समझ सकते हैं। कारण वृद्ध मनु के उपर्युक्त दोनों श्लोकों और गजच्छाया योग के कारण आश्विन कृष्णपक्ष का मघा नक्षत्र ही प्रशस्ततर है, जिसे वेदमन्त्रों ने ऐसे यज्ञ का समुचित काल चुना है।

(५) इसके अतिरिक्त बृहन्मनु ने तो स्पष्ट ही इस आश्विन कृष्णपक्ष को पितृकार्य के लिए सर्वोत्तम बताया है। देखिये :

आषाढीमवधिं कृत्वा पञ्चमं पक्षमाश्रिताः।
कांक्षन्ति पितरः क्लिष्टा अन्नमप्यन्वहं जलम्॥
तस्मात् तत्रैव दातव्यं दत्तमन्यत्र निष्फलम्।

इसका भाव यह है कि वर्षाकाल में वृष्टि, कीचड़ आदि से सर्वविध विपुल सामग्री के यातायात में स्वभावतः रुकावट आ जाती है। अतः उन दिनों गृहस्थों द्वारा पितरों का समुचित सन्तर्पण न हो पाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यही कारण है कि इस बीच समुचित हव्य-कव्य की व्यवस्था न हो सकने से पितर खिन्न रहते हैं। इस तरह खिन्न ये पितृगण आषाढी पूर्णिमा से पाँचवें पक्ष में नित्य ही अन्न एवं जल की आकांक्षा करते रहते हैं। उनका इस समय यह अपेक्षा करना उचित भी है। कारण, तब वर्षा बीत जाती है और शरद् ऋतु आरम्भ हो जाती है। फलस्वरूप निष्पंक मार्ग, निर्मल जल, स्वादु नवशाक-धान्य आदि सभी सुविधाएँ जुट जाती हैं। मनु महाराज कहते हैं कि इसीलिए उन्हीं दिनों (आषाढी पूर्णिमा से पाँचवें पक्ष भर—आश्विन कृष्णपक्ष में ही) आवश्यकता के समय उन श्रद्धेय पितरों को जो कुछ भी दातव्य हो, श्रद्धापूर्वक दे देना चाहिए। उस समय न देकर बाद में उन्हें कुछ दिया जाय तो वह निष्फल-सा हो जाता है। यथासमय उपयोग में ही वस्तु की वास्तविक सार्थकता है। 'का वर्षा जब कृषी सुखानी ?' बाद में भर-भरकर देने का कोई मूल्य नहीं।

सज्जनो,

बृहन्मनु के इस वचन से आपकी सारी शंका कपूर-सी काफूर हो जाती है। इसमें आषाढी से पञ्चम पक्ष कहकर आश्विन कृष्णपक्ष भर श्राद्ध का सुपुष्ट विधान कर दिया गया है।

(६) इससे भी स्पष्ट वचन ब्रह्माण्डपुराण का है :

नभस्यकृष्णपक्षे तु श्राद्धं कुर्याद् दिने दिने।

अर्थात् 'भाद्रपद (आश्विन-पूर्णिमान्त मास मान से) मास के कृष्णपक्ष में प्रतिदिन श्राद्ध करना चाहिए। ऐसे कितने ही वचन मिलते हैं जिनमें आश्विन कृष्णपक्ष में प्रतिदिन श्राद्ध का विधान है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पितृपक्ष में इस श्राद्ध के १६ दिन लिये जाते हैं, जिन्हें 'महालय' कहते हैं। भाद्रपद शुक्ल पूर्णिमा से महालय आरंभ होता

है और उसकी समाप्ति होती है आश्विन कृष्ण अमावास्या को। प्रचलित प्रथा यही है। इसका कारण यह दीखता है कि वैसे तो महालय भर रोज तर्पण आदि श्राद्धीय कृत्य किये जाते हैं, फिर भी अपने पिता की मरण-तिथि को विशेष रूप में यह 'महालय श्राद्ध' होता है। तिथियाँ १५ हैं, इनमें से कोई न कोई तिथि पिता की मृत्यु-तिथि हो ही जाती है। हाँ, जिनके पिता पूर्णिमा को मरते हैं उनके लिए पूर्णिमा को महालय श्राद्ध किया जाय, इसीलिए इन १६ दिनों में महालय श्राद्ध का प्रचलन दीखता है।

'श्रौतसर्वस्वकार' सुगृहीतनामधेय, प्रातःस्मरणीय, निखिलशास्त्रनिष्णात स्वामी श्री बालराम उदासीन महाराज ने आश्विन शुक्ल प्रतिपद् सहित आश्विन कृष्णपक्ष (१५ दिन) को लेकर १६ दिन महालय श्राद्ध के माने हैं, जैसा 'श्रौतसर्वस्व' के पृष्ठ १०६ पर

नभस्यस्यापरे पक्षे तिथिषोडशकं तु यत्।
कन्यास्थार्कान्वितं चेत्स्यात्स कालः श्राद्धकर्मणः॥

श्री शाट्यायन मुनि के इस श्लोक का अर्थ करते हुए लिखा है। इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि आश्विन शुक्ल प्रतिपद् को 'मातामह-श्राद्ध' होता है जो महालय का ही एक अंग-सा है, अस्तु।

(७) इस पितृपक्ष में शक्ति न होने पर केवल अपने पिता की मरण-तिथि के दिन ही श्राद्ध करने का कितना फल है, यह 'निर्णयदीपक' में उद्धृत स्कन्दपुराण, नागरखण्ड के इस वचन से स्पष्ट है :

आषाढ्याः पञ्चमे पक्षे कन्यासंस्थे दिवाकरे।
मृतेऽहनि पितुर्यो वै श्राद्धं दास्यति मानवः॥
तस्य संवत्सरं यावत्संतृप्ताः पितरो ध्रुवम्।
तस्मात् तत्र प्रकर्तव्यं श्राद्धं श्रद्धापरैर्नरैः॥

अर्थात् कन्या राशि पर सूर्य होने पर आषाढी पूर्णिमा से पाँचवें पक्ष में केवल अपने पिता की मरण-तिथि को जो श्राद्ध करता है, उसके पितर निश्चय ही वर्ष भर तृप्त रहते हैं। अतः श्रद्धालु लोगों को उस अवसर पर श्राद्ध अवश्य करना चाहिए।

इस विस्तृत विवेचन से अब आप लोग भलीभाँति समझ गये होंगे कि आश्विन कृष्ण पक्ष में विशेष रूप से श्राद्ध क्यों किया जाता है और इसमें शास्त्रीय दृष्टि क्या है। प्रत्येक शास्त्रविश्वासी इतने सारे वचन सुनने के बाद इसके औचित्य पर किसी प्रकार की शङ्का नहीं कर सकता। फिर भी जो लोग

इसे वैज्ञानिक दृष्टि से परखना चाहें उनके लिए आगे किसी व्याख्यान द्वारा पूरे श्राद्ध कृत्य का ही वैज्ञानिक परीक्षण किया जायगा। आस्तिकों के लिए आज इस प्रसंग में इतना ही पर्याप्त है।

ये सब बातें मानकर भी बहुत से लोग कहा करते हैं कि आजकल तो शास्त्रानुसार भोजन कराने योग्य ब्राह्मण ही नहीं मिलते, फिर श्राद्ध करें तो कैसे करें? अपनी कमजोरी को इस प्रकार छिपानेवालों के लिए एक कहानी ही पर्याप्त होगी जो इस प्रकार है :

एक धर्मिष्ठ और ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण किसी तालाब पर सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। उधर से एक राजा अपने मन्त्रीसहित जा रहा था। राजा ही ठहरा! सनक सवार हो गयी। ब्राह्मणदेव के पास आया और लगा हँसी करने : 'पण्डित जी महाराज, आपके पूर्वज अगस्त्य ऋषि जैसे लोग तो चुल्लू में समुद्र पी जाया करते थे, आप इस छोटे-से तालाब को ही पीकर दिखला दें तब मानूं कि आज भी ब्राह्मणों में कुछ शक्ति है!'

ब्राह्मणदेव मौन ही रहे। केवल पास में पड़ी एक कंकड़ी उठाकर तालाब में फेंक दी। राजा सनकी होते हुए भी बुद्धिमान्, समझदार था। वह लज्जित हो चुपचाप उनके चरणों पर गिर पड़ा।

यह देख पास में खड़े मन्त्री को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह पूछ बैठा : 'महाराज, ब्राह्मणदेव ने तो कोई उत्तर नहीं दिया और न कुछ कर ही दिखाया। फिर आप यह क्या कर रहे हैं? आपके प्रश्न का उत्तर देने के बदले इसने तो आपका प्रत्यक्ष अपमान किया है।'

राजा ने कहा : 'अमात्य, ब्राह्मणदेव ने तालाब में कंकड़ फेंककर मेरे प्रश्न का खरा उत्तर दे दिया। इसका भाव तुम समझ ही नहीं पाये। इससे इन्होंने मेरी चुनौती को ही चुनौती दे दी कि यदि पहले अगस्त्य ऋषि जैसे ब्राह्मण समुद्र-पान कर जाते थे तो राजा रामचन्द्र जैसे क्षत्रिय भी थे, जो समुद्र पर पत्थरों को तैराकर पुल बाँध दिया करते थे। आज भला कोई क्षत्रिय छोटी-सी कंकड़ी को तो पानी पर तैरा दे!'

मन्त्री भी समझकर चुप हो गया।

सज्जनो,

कहने का तात्पर्य यह कि आज कोई किसी की निन्दा करने का अधिकारी नहीं है। यदि पहले के ब्राह्मणों में पूर्ण शास्त्रज्ञान और दिव्य शक्ति

थी तो क्षत्रिय भी पूर्ण वेदज्ञ और तेजस्वी थे। कलिकाल के कराल प्रभाव से आज जैसे ब्राह्मणों में कमी आ गयी, वैसे ही अन्य वर्णों में भी। इसलिए श्राद्ध में समयानुरूप जैसा भी और जितना भी विद्वान्, पवित्र ब्राह्मण मिले, उसी को भोजन कराकर अपना श्राद्ध-कृत्य सम्पन्न करना चाहिए। किसी का दोष निकालना या अपना दोष छिपाना उचित नहीं है।

कोई कह सकता है कि श्राद्ध में सदाचारी, वेदपाठी ब्राह्मणों को ही खिलाना चाहिए, पर आजकल वेदपाठी ब्राह्मण कितने मिलते हैं? दुर्भाग्य-वश उनकी दुर्लभता किसी से छिपी नहीं है। ऐसी स्थिति में श्राद्ध यथाविधि कैसे सम्पन्न किया जाय? इसका समाधान कात्यायन-श्राद्धसूत्र में कर दिया गया है।[1] वहाँ कहा गया है कि सामान्य ब्राह्मणों की पंक्ति के सिरे पर एक वेदपाठी, सदाचारी ब्राह्मण को बैठा दें तो वह एक ही ब्राह्मण पंक्ति में बैठे सभी, हजारों ब्राह्मणों को पवित्र और श्राद्धाधिकारी बना देता है।

फिर यदि कहीं ब्राह्मण ही न मिले, यूरोप, अमेरिका की सैर करने चले गये और वहीं श्राद्ध-दिवस आ जाय तो ऐसे अवसर पर भी हमारे शास्त्रकारों ने रास्ता निकाल रखा है। स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड में बताया गया है कि ऐसे प्रसंग में कुश की मनुष्याकार प्रतिकृति बनाकर उसी को ब्राह्मण मानकर श्राद्ध का अनुष्ठान करें। यदि कहीं कुश भी न मिलें तो देवल ऋषि कहते हैं कि श्राद्धद्रव्य अग्नि को ही भेंट कर दें, गाय को खिला दें या जल में छोड़ दें। पर किसी तरह श्राद्ध का लोप न करें :

सर्वाभावे क्षिपेदग्नौ गवे दद्यादथाप्सु वा।
नैव प्राप्तस्य लोपोऽस्ति पैतृकस्य विशेषतः॥

सज्जनो,

हमारे धर्मशास्त्रकार ऋषि-मुनि बड़े ही दयालु और दूरदर्शी रहे। उन्होंने प्रत्येक कर्म की सारी साङ्ग विधि बताकर जहाँ उसके पालन का दृढ़ आग्रह किया है, वहीं उस सारी विधि के पालन की जहाँ वास्तव में सुविधा न हो, सच्चे अर्थ में 'आपत्काल' हो, वहाँ भी ऐसे मार्ग बता दिये हैं जिन पर चलने से वह कर्म सम्पन्न हो जाता है। उन्होंने कोई ऐसी बात नहीं छोड़ी जिसकी आड़ में कोई किसी तरह की बहानेबाजी कर विधि का विलोप करने का दुस्साहस करे।

---

१. 'अभावेऽप्येकं वेदविदं पंक्तिमूर्धनि नियुञ्ज्याद् आसहस्रात् पंक्तिं पुनाति।'

कोई पूछे कि अत्यन्त गरीब व्यक्ति श्राद्ध कैसे कर पायेगा ? तो आश्वलायन-गृह्यसूत्रकार कहते हैं कि वह श्राद्ध के दिन 'यही मेरा अष्टका-श्राद्ध है' यह कहकर किसी बैल को पैसे-दो पैसे का घास खिला दे या अग्नि में सूखा तृण डाल दे, होम कर दे; पर अष्टका-श्राद्ध का लोप न होने दे :

अथानडुहो यवसमाहरेद्, अग्निना वा कक्षमुपोषेद् एष मे अष्टका इति, नत्वेवानष्टकः स्यात् ।

यदि घास खिलाने को भी पैसे न हों और न अग्नि जलाने के लिए दियासलाई हो तो बृहन्नारदीय पुराण (२६।८४) के अनुसार ऐसा परम निर्धन व्यक्ति श्राद्ध के दिन निर्जन वन में चला जाय और 'मैं बड़ा पापी, दरिद्र हूँ, जो श्राद्ध नहीं कर पाता' यह कहकर जोर-जोर से रोये । पर श्राद्ध क्रिया का कभी लोप न होने दे :

अथवा रोदनं कुर्यादित्युच्चैर्विजने वने ।
दरिद्रोऽहं महापापी वदेदिति विचक्षणः ॥

यदि किसी का हृदय पत्थर-सा कठोर हो, रोना वह जानता ही न हो तो वाराह पुराण (१३।५७-५८) के मतानुसार वह वन में जाय और दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सूर्यादि लोकपालों को अपनी काँख का मूल दिखाकर ऊँचे स्वर से कहे कि मेरे पास धन या श्राद्धोपयोगी कोई पदार्थ नहीं है इसलिए अपने पितरों को केवल नमस्कार कर रहा हूँ । खुले आकाश में (पवन के मार्ग में) मेरी ये भुजाएँ फैली हुई हैं । मेरी इस भक्ति से पितर तृप्त हो जायँ :

सर्वाभावे वनं गत्वा कक्षमूलप्रदर्शकः ।
सूर्यादिलोकपालानामिदमुच्चैः पठिष्यति ॥
न मेऽस्ति वित्तं न धनं न चान्यच्छ्राद्धस्य योग्यं स्वपितॄन् नतोऽस्मि ।
तृप्यन्तु भक्त्या पितरो मयैतौ भुजौ ततौ वर्त्मनि मारुतस्य ॥

इतना करने के लिए तो कोई भी अशक्त नहीं हो सकता !

सज्जनो,

आज हमने आपको महालय श्राद्ध का सारा आवश्यक रहस्य समझा दिया । हमें विश्वास है कि अब आप अपने जीवन में पितरों की आराधना के इस कर्म का, श्राद्ध का कभी विलोप न होने देंगे ।

[२१ अक्तूबर, १९३९]

५

देवर्षि-पितृतत्त्व और विश्वात्म-भावना

सज्जनो,

पिछले प्रवचन के विस्तृत विवेचन से आप श्राद्ध-सम्बन्धी प्रायः सभी आवश्यक विषयों से अवगत हो गये होंगे। अब हम आपको यह बतायेंगे कि मानवों का जीवन किन तीन महान् शक्तियों से परिचालित हो रहा है और उनमें पितरों का क्या स्थान है। साथ ही यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा कि भारतीय संस्कृति का एक उज्ज्वलतम आदर्श यह श्राद्धप्रथा किसी संकुचित वैयक्तिक भावना से अनुप्राणित नहीं, प्रत्युत इसके मूल में विश्वात्म-भावना ही काम कर रही है। हां, तो ध्यान देकर सुनें !

यह नियम है कि कोई भी जड़ वस्तु किसी चेतन शक्ति से संचालित होकर ही नियमित कार्य कर सकती है। यही कारण है कि जड़ प्रकृति के विभिन्न विभागों के संचालनार्थ ईश्वर की नियामिका शक्ति संसार में क्रियाशील है। प्रकृति के ये विभाग यद्यपि असंख्य हैं पर सुविधा के लिए आप उन्हें तीन स्तरों में रख सकते हैं : १. आध्यात्मिक, २. आधिदैविक और ३. आधिभौतिक। पहले से ज्ञान का, दूसरे से कर्म का और तीसरे से स्थूल दृश्य का सम्बन्ध है।

इसे यों समझें : कोई भी शासक अपनी आन्तरिक शासन व्यवस्था चलाने के लिए मुख्य तीन विभागों का संघटन करता है : १. शिक्षा, २. न्याय और ३. प्रबन्ध, जिसके अन्तर्गत स्वास्थ्य भी एक प्रमुख विभाग होता है। अन्य छोटे-छोटे विभाग इन्हीं में आ जाते हैं। ठीक इसी तरह विश्व-संचालक प्रभु ने

ब्रह्माण्ड के संचालनार्थ तीन प्रमुख विभाग बना दिये हैं : ज्ञान, कर्म और स्वास्थ्य। जैसे शिक्षाविभाग के संचालक शिक्षामन्त्री, शिक्षानिदेशक (डाइरेक्टर), चान्सलर, वाइसचान्सलर आदि होते हैं, वैसे ही ईश्वरीय व्यवस्था में ज्ञान-विभाग के प्रमुख सञ्चालक ऋषि हैं। इसी प्रकार जैसे लौकिक शासन-व्यवस्था में न्याय विभाग के सुचारु संचालनार्थ सब जज, डिस्ट्रिक्ट जज, हाईकोर्ट और सर्वोच्च न्यायालय के जस्टिस एवं न्यायमन्त्री होते हैं, वैसे ही परमेश्वर के कर्म विभाग के सञ्चालक हैं देवगण। लौकिक शासन में जैसे प्रबन्ध का संचालन कलेक्टर, कमिश्नर, चीफ मिनिस्टर, गवर्नर आदि करते हैं और उसके एक प्रमुख विषय 'स्वास्थ्य' के सञ्चालनार्थ स्वास्थ्यमन्त्री और स्वायत्त शासन संस्थाओं, म्युनिसिपैलिटियों में हेल्थ अफसर, डाक्टर, वैद्य आदि होते हैं वैसे ही भगवान् के प्रबन्ध विभाग के अन्तर्गत स्वास्थ्य-विभाग का सञ्चालन पितृगण करते हैं। इस प्रकार परमेश्वर के शासन में कर्मक्षेत्र के मुख्य अधिष्ठाता देव, ज्ञानक्षेत्र के मुख्य अधिष्ठाता ऋषिगण और स्वास्थ्य-क्षेत्र के मुख्याधिष्ठाता पितृगण हैं। जीवन के लिए इन्हीं तीन विभागों से साक्षात् सम्बन्ध होता है इसलिए मानव-जीवन की इन्हीं तीन मुख्य सञ्चालक शक्तियों पर हम कुछ प्रकाश डालेंगे।

ध्यान देने की बात है कि भारत में जब तक यह ज्ञान विभाग ऋषियों के हाथ में रहा, तब तक यहाँ बड़ी-बड़ी ज्ञानी-ध्यानी शक्तियाँ प्रकट होती रही हैं। कारण, ऋषिगण भी तभी प्रसन्न रहते हैं जब कि लोग स्वाध्याय में लगे रहकर ज्ञानोपार्जन की चेष्टा करते हैं। ऋषिगण की ही यह कृपा है कि जो बालक वर्ष भर तक यह नहीं जानता कि कौन मेरा पिता है और कौन मेरी माता, मैं क्या हूँ और संसार में क्यों आया हूँ, वही ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, क्रमशः यह सब जानने लगता है। ऋषिगण की प्रेरणा का ही फल है कि कुछ बड़ा होने पर कुमार की स्वाध्याय की ओर प्रवृत्ति होती थी और वह वेद और शास्त्र-ज्ञान के अर्जन में जुट जाता था। गुरु-गृह से पढ़कर समावर्तन के बाद जब वह घर आता तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता तथा वहाँ भी व्यावहारिक ज्ञान का अर्जन करता था। वृद्धावस्था आने पर वह इन्हीं ऋषि-महर्षियों की कृपा से ब्रह्मज्ञ एवं आत्मज्ञ भी बनता था।

सारांश, ऋषिगण की कृपा से ही हमारा ज्ञान का क्षेत्र उत्तरोत्तर विस्तीर्ण होता हुआ असीम हो जाता था। शास्त्र-ज्ञान, व्यवहार-ज्ञान, किम्बहुना, आत्म-ज्ञान, आत्म-दर्शन भी ऋषि-कृपा पर ही निर्भर है और अतीत में उसका हमें पूरा-पूरा लाभ मिलता रहा है। पर जबसे हमने अपने ग्रन्थों का अध्ययन

छोड़ दिया, स्वाध्याय से प्रमाद करने लगे तभी से ऋषिगण की कृपा भी खो बैठे हैं। स्पष्ट है कि अध्ययन-मननशील परिश्रमी छात्रों पर ही शिक्षाविभाग के अधिकारियों की कृपावृष्टि हुआ करती है। उनसे वे अन्य अनभ्यासियों की अपेक्षा अधिक प्रेम किया करते हैं, उनका सम्मान करते हैं, तरह-तरह की सुविधाएँ और छात्र-वृत्तियाँ देते हैं। जब लौकिक शिक्षा-जगत् के अधिकारियों की अध्ययन-शील छात्र पर इतनी कृपा और अनध्ययन-शील पर उपेक्षा देखी जाती है तो भगवान् के शिक्षा-विभाग के अधिकारी ऋषियों की स्वाध्यायशील पर कृपा और उससे प्रमाद करनेवाले के प्रति उपेक्षा भाव में पूछना ही क्या है! अतः यदि हमें पुनः ज्ञान के क्षेत्र में उन्नत होना है तो स्वाध्याय द्वारा ऋषियों का प्रसाद प्राप्त करना ही होगा।

ध्यान देने की बात है कि आज यूरोप के लोग क्यों उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हैं? कहना होगा कि अब तक भारत ऋषियों की कृपा का पात्र रहा, पर आज वह कृपा यूरोप को प्राप्त हो रही है। कारण स्पष्ट है, यूरोपियन लोग ऋषि-कृपा के प्रमुख साधन स्वाध्याय में अपनी पूरी शक्ति से जुट गये हैं। उन्होने हमारे ही अमर वाङ्मय वेदों का ठोस स्वाध्याय किया और संसार के कोने-कोने में उसका प्रचार कर दिया। क्या मैक्समूलर, रॉथ, कीथ, एर्गलिग, ओल्डनबर्ग, ग्रिफिथ आदि पाश्चात्त्य विद्वान् वेदों के कम स्वाध्यायकर्ता कहे जायँगे, जिन्होंने बड़े परिश्रम से वह सारा वाङ्मय एकत्र कर प्रथम चारों वेदों का गंभीर अध्ययन किया, फिर अपनी भाषा में उनका गद्य-पद्यात्मक अनुवाद किया, अलभ्य ग्रन्थों के संशोधित नव संस्करण प्रकाशित किये, पदों की अनुक्रमणियाँ बनायीं और 'अवेस्ता' आदि अन्य धर्मों के धर्मग्रन्थों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन किया—क्या यह कम स्वाध्याय-प्रेम है? तब क्यों न ऋषिगण उन पर प्रसन्न हों? एक इतिहासकार लिखता है कि 'मालूम पड़ता है कि वेदों का प्रचार करने के लिए सात सौ वर्षों बाद पुनः सायणाचार्य ही मैक्समूलर के रूप में प्रकट हुए हैं।' अर्थात् जिस तरह सात सौ वर्ष पूर्व सायणाचार्य ने वेदों पर भाष्य लिखकर संसार के कोने-कोने में वैदिक ज्ञान की गङ्गा बहा दी थी, उसी तरह बीसवीं शताब्दी में मैक्समूलर भी विश्वभर में वैदिक ज्ञान की मन्दाकिनी प्रवाहित कर रहे हैं। सचमुच मैक्समूलर ने अपनी सारी आयु वेद के स्वाध्याय में ही बिता दी। इन पाश्चात्त्य वैदिक विद्वानों के स्वाध्याय का ही सुपरिणाम है कि उस देश पर ऋषिगण की कृपा हो गयी और उन्हीं की कृपा से आज वह देश इतना उन्नत हो रहा है।

सभी जानते हैं कि आज से कुछ समय पहले तक यूरोपीय लोग जंगली-सा जीवन बिताते थे। उनकी असभ्यता की सीमा यह थी कि वे अपने को मानवीय सृष्टि में परिगणित करने का भी साहस नहीं कर पाते थे। पर जबसे वहाँ क्रमशः ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होने लगे जो स्वाध्याय को ही अपना जीवन-व्रत मानते थे तबसे उस देश पर ऋषिगण की भी कृपा हो चली। फलतः वहाँ ऐसा-ऐसा ज्ञान-विज्ञान प्रकट होने लगा जिसके प्रचण्ड आलोक से विश्व की आँखें चौंधिया उठीं, विश्व में उस देश की धाक बैठ चली। स्वाध्याय से प्रसादित ऋषिगण की कृपा का ही यह फल है कि उस देश में 'न्यूटन' जैसे व्यक्तियों ने जन्म लिया, जिन्होंने कपने अदम्य स्वाध्याय द्वारा वैज्ञानिक क्षेत्र में अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा दी। न्यूटन जैसे वैज्ञानिकों के आविष्कारों का ही प्रभाव है कि आज यूरोप में बीस हजार सैनिकों की फौज अन्य स्थान की एक लाख सैनिकों की फौज का सामना करने का उत्साह दिखाती है। हिटलर आज इतनी उछल-कूद क्यों मचा रहा है? थोड़ी-सी फौज के सहारे सारे यूरोप की फौज का सामना करने का कैसे साहस कर रहा है? कहना होगा कि स्वाध्यायशील ऋषियों के कृपापात्र न्यूटन जैसे वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत चमत्कारों का बल उसके हाथ लग गया इसीलिए उसका हौसला इतना बढ़ गया। सारांश, यह सब स्वाध्याय का ही फल है। ऋषिगण स्वाध्यायशील देश और व्यक्ति को अदम्य शक्ति तथा विकास का अवसर दिया करते हैं।

हमारे देश में आज यदि कोई उल्लेख्य शारीरिक शक्ति अर्जित करता है तो शिक्षा या स्वाध्याय के प्रति उसका भाव सर्वथा उपेक्षा का ही दीख पड़ेगा। हमारे देश के 'गामा' आदि पहलवान संभवतः शिक्षा से सर्वथा अछूते ही मिलेंगे। पर यूरोप के मल्ल-शिरोमणि 'जिविस्को' जैसे लोग अदम्य शारीरिक शक्ति के साथ ग्रेजुएट भी मिलेंगे। यूरोप में यह आवश्यक नहीं कि बल की उपासना के साथ विद्या की उपासना एकदम छोड़ ही दी जाय। कारण, वे लोग स्वभावतः स्वाध्यायशील हो चले हैं। इसके विपरीत हमारे यहाँ यदि आज कोई बी० ए० करना चाहता है तो उसका उद्देश्य केवल नौकरी होता है। बी० ए० पास कर स्वाध्याय द्वारा नयी खोज की सूझ कदाचित् ही किसी को सूझे। हम प्रायः स्वाध्याय से बचते ही रहते हैं। अनिवार्यतः कुछ कर लिया तो वह अलग बात है। जबर्दस्ती का राम-राम कबतक चल सकता है! इस तरह जब हम स्वाध्यायशील ही नहीं तो हम पर ऋषियों की कृपा ही कैसे हो? हममें से अच्छे-अच्छे वैज्ञानिक भी कैसे निकलें?

सज्जनो,

यूरोपीय लोगों के इतने गुणगान और आत्मीय जनों के समीक्षण का तात्पर्य यही है कि हमारा यह स्वाध्याय से प्रमाद अत्यन्त हानिकर है अतः हमें चाहिए कि इसे हम शीघ्र से शीघ्र त्याग दें और अधिक से अधिक स्वाध्यायशील बनें। कारण, किसी भी व्यक्ति या समुदाय, जाति या राष्ट्र की उन्नति का मूलमन्त्र है स्वाध्याय, शिक्षा। जो इसका जीवन-व्रत लेता है, उस पर इस विभाग के ईश्वर-नियुक्त संचालक ऋषि-गणों की कृपा बरसने लगती है। फिर वह व्यक्ति, समाज, जाति और राष्ट्ररूप क्षेत्र को सुख, सम्पत्ति तथा सम्मान के सस्य से लहलहा देता है; अपने और विश्व के लिए भी वरदान बन जाता है। यह हुई मानवीय जीवन की परिचालक एक दैवी शक्ति हमारे ऋषिगण!

दूसरी शक्ति है देवगण, जो हमारे जीवन के कर्मक्षेत्र का परिचालन करते हैं। यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान द्वारा हम इन कर्म-संचालक देवों के कृपापात्र बन सकते हैं। ज्यों-ज्यों हमारे यज्ञादि कर्म परिशुद्ध और परिपुष्ट होते जा गे त्यों-त्यों हम पर देवों की कृपा भी बरसती जायगी। आप जानते ही होंगे कि किसी विभाग का अध्यक्ष या संचालक तभी प्रसन्न होता है जब उसके विभागीय नियमानुसार कार्य किया जाय। देव भी तभी हम पर प्रसन्न होंगे जब हम वैदिक कर्मों में, यज्ञ-यागादि में तत्पर रहें। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा ही है :

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
(३-१२)

अर्थात् पहले-पहल जब प्रजापति ब्रह्मदेव ने हम प्रजावर्ग की सृष्टि की तो साथ में यज्ञ का भी सर्जन कर दिया और हमें बताया कि 'तुम लोग इस यज्ञ से देवताओं को प्रसन्न करो, तो निश्चय ही तुम लोगों को वे भी ऊपर उठायेंगे, उन्नत करेंगे। इस प्रकार एक दूसरे का सहयोग करते रहोगे तो परम कल्याण के भागी बनोगे।' मानो ब्रह्मदेव ने हमें स्वर्ग के देवों के साथ व्यापार करने के लिए यज्ञ का यह पासपोर्ट या वीसा ही दे दिया। इस तरह यदि हम यज्ञ-यागादि कर्मों द्वारा देवताओं को पुष्ट बनायेंगे तो वे इतने कृतघ्न नहीं, इतने निर्धन नहीं कि प्रत्युपकार के रूप में हमारा मानवीय जीवन सुख-सुविधाओं से सम्पन्न न कर दें। इतना ही नहीं, वे तो उससे आगे मोक्ष तक का टिकट दे देंगे।

किन्तु आज हम भारतीय प्रजापति पितामह ब्रह्मा का यह हितोपदेश भूल गये या जान-बूझकर भुलाते जा रहे हैं, फलस्वरूप देवों की हम पर कुदृष्टि हो रही है, वे कुपित-से हो रहे हैं। इसी के अभिशापस्वरूप आज हमें दुर्भिक्ष आदि विपदाओं का शिकार होना पड़ रहा है। अतः हमें अब भी सचेत हो कर्मों का अनुष्ठान कर मानव जीवन की दूसरी परिचालक शक्ति देवों की शक्ति का संग्रह करना चाहिए।

मानव जीवन की तीसरी परिचालक शक्ति हैं पितर, जिनके अधीन जीवन का प्राण-स्वास्थ्य-विभाग है। वे मानव के स्वास्थ्य का ध्यान रखते हैं। ऋतुओं का क्रमशः परिवर्तन करना भी पितरों के ही अधिकार में है। यदि हम उन्हें श्राद्धादि कृत्यों द्वारा प्रसन्न रखेंगे तो ऋतुओं का उचित परिवर्तन होता रहेगा जिससे रोगादि कम होंगे। पितृगणों के प्रकुपित होने, असन्तुष्ट रहने या उपेक्षित रहने पर ऋतुओं का समुचित परिवर्तन नहीं हो पाता, जिससे अनेक रोगादि फैल जाते हैं, मानवीय जीवन, मानव का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

पितर एक तरह से हमारे डाक्टर, वैद्य हैं। आप जानते ही हैं कि शासन के प्रबन्धादि सभी विभागों में डाक्टरों का कितना अधिक हाथ रहता है। किसी को रुग्ण होने पर अवकाशादि माँगना पड़ता है तो डाक्टर का 'मेडिकल सर्टिफिकेट' अनिवार्य होता है। यदि किसी सरकारी नौकरी में जाना पड़ता है तो निर्वाचन की सारी विधि हो जाने के बाद भी डाक्टर का स्वास्थ्य-प्रमाण-पत्र प्राप्त करना अनिवार्य होता है। डाक्टर जब लिख देता है कि इसका स्वास्थ्य ठीक है तभी उसे नौकरी मिल पाती है। यदि डाक्टर लिख दे कि इसकी आँखों में थोड़ी-सी कमजोरी है या इसे अमुक संक्रामक रोग की आशंका है तो बस, आपकी सारी बी० ए०, एम० ए० की डिग्रियाँ धरी रह जायँगी। यह कितना बड़ा अधिकार है डाक्टरों का, स्वास्थ्याधिकारी की यह कितनी महती महिमा है!

ईश्वरीय शासन-व्यवस्था में पितृगण ही हमारे स्वास्थ्य के कर्ता-धर्ता और प्रमाता हैं। पृथ्वी पर आने पर ही नहीं, माता के पेट में, गर्भ में भी हमारे अंग-प्रत्यंग की रचना की जिम्मेदारी उन्हीं पर है। किम्बहुना, मातृगर्भ में जीवात्मा के प्रवेश के लिये उपयोगी स्थूल शरीर का उपादान माता-पिता के रज-वीर्य की सहायता से वे ही पहले से तैयार करते हैं। अब स्पष्ट हो जाता है कि जीव के गर्भ में प्रवेश से लेकर अन्त तक शरीर की सर्जन प्रक्रिया

पितरों के ही अधिकार में है। निष्कर्ष यह कि स्थूल शरीर-प्राप्ति का सारा दायित्व पितरों पर ही है। पितृगण प्रसन्न रहेंगे तभी हमें सुन्दर और नीरोग शरीर प्राप्त होगा, गौर वर्ण मिलेगा, अंग-प्रत्यंग विकल नहीं होंगे और शरीर वलिष्ठ होगा। जन्म से ही हममें शक्तियाँ निहित रहेंगी। आप जानते ही हैं कि जो मशीन निर्माण के समय ही सर्वांगसुन्दर रहती है, सुदृढ रहती है, वह दीर्घ काल तक चल पाती है। शरीर भी एक मशीन है और उसके सभी कलपुर्जों को सुदृढ और दीर्घ काल तक कार्यक्षम बनाने की शक्ति के आधाता हैं हमारे पितर।

प्राचीन काल में हमारे युवक कितने सुन्दर और सुदृढ होते थे ! स्पष्ट है कि तब भारतीय अपने श्राद्धादि कृत्यों द्वारा पितरों को सर्वथा तृप्त, तुष्ट रखते थे। आज राष्ट्र के शासकों को विविध रोगों के निरोधार्थ राष्ट्रीय स्तर पर अभियान चलाने पड़ते हैं। यदि हम भारतीय भूले हुए पितरों के इस प्रसादन-कार्य, श्राद्ध कृत्य पर दृढ हो जायें तो यह कष्ट कभी न उठाना पड़े।

पितृ-उपासना : विश्वात्म-भावना

सज्जनो,

यदि विचार किया जाय तो पितृगण की तृप्ति ही ब्रह्माण्ड की तृप्ति का परम साधन है। कोई हेल्थ अफसर या स्वास्थ्याधिकारी केवल अपने परिवार या जाति के ही स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखता, प्रत्युत वह अपने निर्धारित क्षेत्र के अन्तर्गत सारी जनता के स्वास्थ्य की चिन्ता रखता है। पितरों की भी यही बात है। उनका कार्य-क्षेत्र—स्वास्थ्य-संवर्धन, स्वास्थ्यरक्षण—विश्वव्यापक है अतएव वे विश्व के स्वास्थ्य की चिन्ता रखते हैं।

हमारा यह श्राद्धकृत्य भी अपने पितरों की तृप्ति के साथ समस्त संसार की तृप्ति की भावना को अन्तर्निहित रखता है। स्पष्ट है कि स्वभावतः परि-सीमित व्यक्ति का कोई भी कार्यक्षेत्र अपना निकटवर्ती प्रदेश और निकटवर्ती प्रजा ही होता है। पर उसका भावना, उसका मानसिक व्यापार विश्वव्यापी बन सकता है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति किसी परिच्छिन्न प्रदेश में काम करता हुआ भी विश्वव्यापक बन सकता है। व्यष्टि-समूह ही तो समष्टि है। जब प्रत्येक व्यष्टि का हित-साधन हो जायगा तो समष्टि का हित-साधन अर्थादागत है। इतनी सतर्कता अवश्य रखनी पड़ती है कि व्यष्टि का वह हित-साधन किसी प्रकार समष्टि के हित-साधन का बाधक न हो। यदि उसमें विश्व-हित-साधन की भावना जुट जाय तो स्वर्ण-सुयोग ही कहा जायगा।

हमारे ऋषिगण स्पष्ट ही बताते हैं कि श्राद्धादि पैतृक अनुष्ठानों द्वारा हम अपनी आत्मा को विश्व के साथ मिला सकते हैं और मिलाना ही चाहिए। हमें श्राद्ध में जो-जो अनुष्ठान करने पड़ते हैं उन्हीं से यह प्रतीत हो जाता है कि उन सब में उदार भाव, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव भरा पड़ा है।

देखिये। श्राद्ध में प्रथमतः बिछाये हुए कुशों पर तिल-संयुक्त जल द्वारा किन-किन पितरों का आवाहन किया जाता है :

अस्मत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥
मातामहकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥

इन सब मन्त्रों से अपने कुल, मातामह के कुल तथा बन्धुवर्गों के कुल में जिनकी सद्‌गति नहीं हुई है उन सभी पितरों का आवाहन किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि श्राद्धकर्ता केवल अपने माता-पिता का ही कल्याण नहीं चाहता, प्रत्युत अपने और माता-पिता के सभी सम्बन्धियों के अभीष्ट या कल्याण के लिए उनका प्रयत्न होता है।

वास्तव में श्राद्धकृत्य का अनुष्ठान समस्त विश्व को प्रेम-गंगा के प्रवाह में सर्वशः आप्लावित करने का एक जीवित-जाग्रत् प्रतीक है। यथा :

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः॥
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्॥

अर्थात् ब्रह्म से लेकर अतिक्षुद्र कीट स्तम्ब-पर्यन्त देवता, ऋषि, पितर, मृत मनुष्य—मेरे माता-पिता, पितामह, मातामहादि सभी इस मेरे द्वारा प्रदत्त तिलोदक से तृप्त हो जायें। इतना ही नहीं, सातों द्वीपों में निवास करनेवाले जो हमारे पिछले जन्मों के कुलों के माता-पिता, बन्धु आदि हैं वे भी इस तिलोदक द्वारा तृप्त हो जायें, उनकी भी अन्तरात्मा को मेरे इस तिलोदक से शाश्वत शान्ति प्राप्त हो जाय।

सज्जनो,

यहाँ जो हमारे शास्त्रकारों ने, श्राद्ध-प्रवर्तकों ने विश्व-प्रेम की लोकोत्तर भावना को मूर्त कर दिया। कारण, इन मन्त्रों में श्राद्धकर्ता यह चाहता है कि

मेरे इस कृत्य से पूर्वजन्मों के जितने भी पितर हैं, सभी तृप्त हो जायें। यदि पिछले जन्मों को लेकर विचार किया जाय तो संसार का प्रत्येक प्राणी माता-पिता, या बन्धु निकलेगा, क्योंकि हम कभी, किसी योनि में किसी के पुत्र बने, कभी किसी के पिता तो किसी के भाई। इस प्रकार हमारी अतीत अनन्त, शास्त्रों की भाषा में ८४ लाख योनियों में संसार का ऐसा कोई भी प्राणी छूटा न होगा, जिसके हम पिता, पुत्र, माता या भाई न बने हों; हमारा उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध न हुआ हो। इस प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड हमारा बन्धु-बान्धव, आप्त पितर सिद्ध हो जाता है। तब श्राद्धकर्ता इस प्रकार का संकल्प और कामना करता है, तो स्पष्ट ही वह विश्व की तृप्ति की कामना है।

श्राद्ध हमें पितरों की तृप्ति के साथ विश्व-प्रेम का भी अमूल्य पाठ पढ़ाता है। पर आज के लोग इसका यह गूढ रहस्य न समझकर व्यर्थ ही द्वेषाग्नि से हृदय को जलाकर जीवन गँवा रहे हैं। सोचने की बात है कि ऐसा दुर्लभतम विश्वात्म-भाव का सूचक कर्म क्या कभी हेय या उपेक्षणीय हो सकता है, जिसमें सारे संसार के जीवमात्र की कल्याण-कामना की जाती है! प्रत्येक श्रद्धालु का कर्तव्य है कि इस श्राद्धकृत्य को कभी हेय न समझे, प्रत्युत उसे यही समझना चाहिए कि इस श्राद्धकृत्य में अति उदार, विश्वव्यापी विराट् प्रेम का कर्मकलाप है, जिसके नियमित अनुष्ठान के द्वारा मानव समष्टि सत्ता के साथ एकीभूत, एकरस होकर सकल कल्याण का अधिकारी बन सकता है।

काक-बलि का रहस्य

श्राद्ध के द्वारा भारतीयों के विश्व-व्यापी प्रेम का निदर्शन तो तब और भी स्पष्ट हो जाता है, जब वे इस कृत्य में कौए को भी अन्न (काकबलि) देते हैं। आज के आपातदर्शी हँसी के रूप में पूछा करते हैं कि श्राद्ध में 'कौए को बलि क्यों दी जाती है? क्या आपकी भाषा में उस चाण्डाल पक्षी को अन्न देने से आपके पितर तृप्त हो जाते हैं? क्या उससे आपके पितरों का कोई नाता-रिश्ता है? तरस आता है इन बेचारों की बुद्धि पर!

सज्जनो,

'काकबलि' से तो हमारा विश्व-प्रेम ही टपक रहा है। हिन्दू धर्म का श्राद्ध-कृत्य इस विधि को अपने में समाविष्ट कर डंके की चोट घोषित कर रहा है कि हिन्दू-जाति का हृदय कितना विशाल है। देखो, यहाँ निम्नतम पक्षियों के लिए भी अखण्ड प्रेम की सरिता बह रही है। उसमें जरा डुबकी लगाओ और अपने जन्म-जन्मान्तर का कल्मष धो डालो।

लोग कौए के 'कांव-कांव' शब्द को सुनना भी पसन्द नहीं करते। उसे अस्पृश्य और अशुभ मानते हैं। काक-मैथुन का दर्शन हो जाने पर कहा जाता है कि उस व्यक्ति का मरणयोग आ गया। तदर्थ प्रायश्चित्त भी किया जाता है। 'पक्षीणां चैव वायसः' पक्षियों में कौए को 'धूर्तराज', अकारण क्लेश-कारी तथा निकृष्टतम माना गया है। पक्षियों के पालने के शौकीनों को भी कभी कौआ पालते नहीं देखा गया। ऐसे पक्षी को भी श्राद्ध में बलि देने का रहस्य कुछ और ही है। आपातदर्शी उसे कैसे समझेंगे!

हम उसे बलि देकर स्पष्ट रूप में यह घोषित करते हैं कि संसार के सभी जीव ईश्वर की सन्तान हैं: 'अमृतस्य पुत्राः'। क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी, जब सभी एक ही पिता की सन्तानें हैं तो क्यों न परस्पर सभी के साथ प्रेम दिखलाया जाय? क्यों न अपनी आत्मा को 'विश्वात्मा' माना जाय? इसी के प्रतीक रूप में, विश्व को यही पाठ पढ़ाने के लिए नीचतम पक्षी कौए को भी श्राद्ध में बलि दी जाती है। इसी से हिन्दू जाति का यह श्राद्ध कृत्य अपनी आत्मा की विशालता, उदारता और गंभीरता का स्पष्ट निदर्शन करता है। विशाल-हृदय वही कहलाता है जिसमें सभी जीवों के समान हितार्थ प्रेम की सरिता बहती रहे!

काकबलि का एक अन्य भाव यह भी है कि पितृलोक से अत्यधिक सम्बन्ध सूर्यपुत्र, धर्मराज यमराज का है और उनकी रुचि विशेषतया काली वस्तुओं पर होती है। स्वयं उनका वर्ण काला है, वाहन भी काला भैंसा है और सहायक दूत भी काले रंग के ही होते हैं। श्राद्ध में भी काले तिलों से मिश्रित जल से तर्पण किया जाता है। इस प्रकार यमराज की प्रायः सभी वस्तुएँ काली हैं। इधर कौआ भी काला है, काले रंग की उपमा का वह अनिर्वाध उपमान है। यही कारण है कि पृथ्वी पर उसे यमराज का समशील दूत मान लिया जाता है। अन्त्येष्टिकृत्य में दशाह के दिन उसे अन्तिम पिण्ड देकर यह अपेक्षा की जाती है कि वह उसे खा जाय, कम से कम स्पर्श तो कर ले। उसके स्पर्श करने तक श्राद्ध-कर्ता प्रतीक्षा करता रहता है। शीघ्र स्पर्श करने या पिण्ड उठा ले जाने पर ऐसी मान्यता है कि मृत पितर को अब कोई वासना नहीं रही। ऐसा न होने पर अनेक वासनाओं का उच्चारण कर उसकी पूर्ति करने के संकल्प तक चलते हैं।

सारांश यह कि यमदूत काक को बलि देकर यह माना जाता है कि इससे यमराज प्रसन्न होंगे और यमराज के प्रसन्न रहने पर हमारे पितरों को अधिक कष्ट न होगा। काकबलि में एक यह भी रहस्य छिपा हुआ है।

पञ्चमहायज्ञ का उदार भाव

सज्जनो,

भारतीय संस्कृति की विश्वात्म-भावना का कहाँ तक वर्णन किया जाय। देखिये : हमारे शास्त्रों में द्विजों के लिए नित्यकर्म के रूप में पञ्च-महायज्ञ का विधान है। इसके विज्ञान पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि पञ्चमहायज्ञ का पञ्चसूना-दोष-परिहाररूप जो फल बताया गया है वह तो उस व्यष्टि शरीर से सम्बद्ध गौण फल है, मुख्य फल तो विश्व-जीवन के साथ एकात्म-भावना करते हुए आत्मोन्नति का साधन ही है। अतएव मनु महाराज कहते हैं :

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(म० स्मृ० ३-७०)

अर्थात् १. ब्रह्मयज्ञ, २. पितृयज्ञ, ३. देवयज्ञ, ४. भूतयज्ञ और ५. मनुष्य-यज्ञ, ये पञ्चमहायज्ञ हैं। मनु कहतें हैं कि इनमें अध्ययन-अध्यापन ही 'ब्रह्मयज्ञ' है। ऋषियों ने अनेक वर्षों तक तपस्या कर हमारे लिए स्मृतियों एवं शास्त्रों में जो ज्ञान-भण्डार भर दिया है उसे अध्ययन-अध्यापन द्वारा हम साफ-सुथरा और तेजस्वी नहीं रखते तो समझ लें कि हम ब्रह्मयज्ञ न कर पाप के भागी बनते हैं। इसी प्रकार अन्न या जल द्वारा नित्य-नैमित्तिक पितरों का तर्पण ही 'पितृ-यज्ञ' है। देवताओं को उद्देश्य कर किये जानेवाले नित्य होम का नाम 'देवयज्ञ' है। गाय, कुत्ता, कौआ आदि पशु-पक्षियों को अन्नादि-दान 'भूतयज्ञ' कहलाता है और अतिथि-सेवा का नाम है 'मनुष्ययज्ञ'। स्पष्ट है कि इसमें कितनी महान् विश्वात्मता छिपी हुई है।

इसके न करने के प्रत्यक्ष दोष बताकर शास्त्रकार कहते हैं कि जो गृहस्थ ये पञ्च-महायज्ञ करते हैं उन्हें पञ्च-सूना दोष नहीं लगता। अर्थात् शास्त्रकार चाहते हैं कि दोष के भय से ही सही, मानव इस परम उदार प्रथा में बिना प्रमाद के लगा तो रहे।

वैसे इन दोषों को भी देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि हमारे मुकाबिले कौन कितना अहिंसा-व्रत रख सकता है। सामान्य तौर पर ऐसा बताया गया है कि गृहस्थ के घर नित्य ही पाँच स्थानों पर जीवहत्या हुआ करती है : १. चुल्ली या चूल्हा, २. पेषणी (चक्की), ३. उपस्कर (झाड़), ४. कण्डनी (ऊखल) और ५. उदकुम्भ (जलपात्र)। गृहस्थ के लिए ये पाँचों नित्य के उपयोगी

पदार्थ हैं, इन्हें छोड़ उसकी गृहस्थी चल ही नहीं सकती। फलतः इन स्थानों पर सूक्ष्मतम जीवों की हत्या भी अनिवार्य है और वे अनिवार्यतः नित्य अखण्ड रूप में गृहस्थ के सिर चढ़ती ही रहेंगी। इसलिए महर्षियों ने बताया कि भाई, इस विश्वात्म-भाव के सूचक पञ्च-महायज्ञ को बिना प्रमाद के नित्य करते जाओ तो इन अनुपेक्षणीय जीव-हत्याओं के पाप से बच जाओगे। ध्यान रहे कि पाप उतना पाप नहीं, जितना पाप को पाप न मानना है। अनिवार्य पाप का प्रायश्चित्त कर हिन्दू वैदिक गृहस्थ सर्वथा अहिंसाव्रती बना रह सकता है।

इन पाँच महायज्ञों में पितृयज्ञ चतुर्थस्थानीय है। यदि हम अर्यमादि देव-पितरों एवं दिवंगत अपने पूर्वजादि मनुष्य-पितरों को नित्य तर्पण, पिण्डदानादि से तृप्त न करेंगे तो निश्चय ही पाप के भागी होंगे। फिर विश्व-जीवन के साथ ऐक्य भी सम्पादित न कर सकेंगे। बस, यही पितृयज्ञ है, यही श्राद्ध है, जो हमें अपनी आत्मा को विश्वात्मा के साथ मिलाना सिखाता है।

[२३ अक्तूबर, १९३९]

६

श्राद्ध : विज्ञान की कसौटी पर

सज्जनो,

पिछले प्रवचनों में आपने सुना कि मानवीय जीवन के संचालन में पितरों का कितना बड़ा हाथ है और हमारी यह पितृ-उपासना, श्राद्ध-विधि किसी संकुचित दायरे से बँधी न होकर कितनी व्यापक भावना से अनुप्राणित है।

फिर भी आज विज्ञान का युग है। लोग हवाई-जहाज पर चलते हैं। आप कितनी ही साफ-सुथरी और समतल भूमि बना दें पर आकाश में उड़ने-वालों के पैर जमीन पर पड़ते ही नहीं। ऐसे लोगों को पकड़ने के लिये हमें भी विज्ञान के वाहन पर चढ़कर उड़ना होगा। चमत्कार दीखने पर ही तो नमस्कार होगा। तो चलिये, आज इसी पर विचार किया जाय।

आज 'विज्ञान' का जो भौतिक विज्ञान अर्थ माना जाता है वह उसके व्यापक विशाल रूप को एकदम मच्छर बना देता है। वस्तुतः जो बात अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों भूमियों पर युक्ति-युक्त सिद्ध हो वही 'विज्ञान' है। इस परिभाषा के अनुसार देखा जाय तो समग्र श्राद्ध एक 'विज्ञान' ही है जिसमें इसकी तीनों धाराओं का अत्यन्त युक्ति-युक्त अपूर्व संगम है। यह विषय इतना विस्तृत है कि १, २ या ३ व्याख्यानों से पूरा नहीं हो सकता। विस्तार-भय से अधिक कहना सम्भव भी नहीं है। अतः संक्षेप में ही थोड़ा विचार प्रस्तुत करते हैं।

पहले श्राद्ध की मूलभित्ति मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्ति को ही लें। उसके बाद श्राद्ध का विशेष 'काल' अर्थात् अमावास्या और महालय।

तदनन्तर श्राद्ध की 'विधि' के अन्तर्गत एक तो तीन पीढ़ियों तक ही श्राद्ध और दूसरा पिण्ड-दान से पितृ-तृप्ति का सम्बन्ध। हम समझते हैं कि इन्हीं तीनों के वैज्ञानिक विवेचन से श्राद्ध के शेष सभी विषयों का परीक्षण गतार्थ हो जायगा।

पितृ-यज्ञ या श्राद्ध का एक फल जिसे अबतक स्पष्ट शब्दों में नहीं बताया गया, प्रेतत्व-निवृत्ति है। श्राद्ध कृत्य द्वारा प्रेतयोनि-प्राप्त जीवों का प्रेतत्व निवृत्त हो जाता है। मनुष्य की मृत्यु के समय उसके पुत्र-पौत्रादि जुटकर रोने-धोने लगते हैं। कोई कहता है : 'हा पिता ! हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हो ?' कोई कहती है : 'हा प्राणाधार ! क्या अपराध हुआ जो मुझे अकेली को छोड़े जा रहे हैं ?' यह सब देख-सुनकर यदि मुमूर्षु मोह-मूच्छित हो इस दुनिया से उठ जाता है तो प्रेतयोनि को प्राप्त करता है। अपमृत्यु, आत्मघातादि-प्रयुक्त आकस्मिक मरण से भी मृतक को प्रेतयोनि में जाना पड़ता है। उसकी प्रेतत्व-निवृत्ति का रामबाण उपाय है श्राद्ध। जैसे सर्प से काटे मनुष्य की मूर्च्छा नौसादर और कली चूना सुंघाते ही मिट जाती है, ठीक इसी तरह श्राद्ध से प्रेत-योनि में पतित मनुष्यों का प्रेतत्व भी छूट जाता है।

श्राद्ध में महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती तीनों शक्तियों का अद्भुत संगम है। जहाँ एक-एक शक्ति दुर्दम से दुर्दम दानवों का क्षणभर में दमन कर डालती है वहाँ तीनों के संगम की बात ही क्या ! जो सामर्थ्य इन तीन शक्तियों में है वही हमारी श्राद्धीय तीन शक्तियों में भी भरी पड़ी है। वे तीन शक्तियाँ हैं : १. मनःशक्ति, २. मन्त्रशक्ति और ३. द्रव्यशक्ति। बड़ी-बड़ी शक्तियों को इन त्रिविध शक्तियों के यथाविधि प्रयोग द्वारा अनुष्ठित श्राद्ध-कृत्य का लोहा मानना पड़ता है, फिर क्षुद्र प्रेत आदि की तो बात ही क्या !

लीजिए, पहले मनःशक्ति की महनीय महिमा सुनिये। शास्त्र तो इसके सामर्थ्य-वर्णन से अघाते ही नहीं। स्वाध्यायशीलों से यह छिपा नहीं है कि एक-मात्र मनःशक्ति से हम जीवभूमि से उठकर ब्रह्मभूमि तक पहुँच सकते हैं और चाहें तो ब्रह्म होते हुए भी नीच से नीच योनि में गिर सकते हैं। कहा भी है :

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष की कुंजी है। यदि मन विषयासक्त हुआ तो सामने बन्धन तैयार है और वही निर्विषय बन जाय तो अनावृत मोक्षद्वार सादर प्रवेशार्थ निमन्त्रित करता है। मन के ही बल से भक्त भगवान्

तक के दर्शन कर लेता है। योगी मनोबल से ही विश्व को वश कर लेता है, कठिन से कठिन रोग को जड़ से उखाड़ फेंकता है।

श्राद्ध में इसी मनःशक्ति का सुनियोजित प्रयोग है। श्राद्धकर्ता सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य, स्पर्शास्पर्श आदि व्रत-नियमों से संयमी बनता है। फिर 'आयन्तु नः पितरः' इत्यादि मन्त्रों से भावना-भावित हो परलोकगत आत्मीय पितरों को उनकी मुक्ति के लिए श्राद्धस्थान में आवाहित करता है। यह विज्ञान-सिद्ध है कि जहाँ आत्मा और मन का मेल होता है वहाँ मन की चिन्तन-तरंगें दूसरे मन पर अपनी अमिट छाप डालती हैं। एक घर में पाँच सितारें एक स्वर में मिलाकर रख दें और उनमें से एक को लेकर बजायें तो चारों स्वयं गूंज उठती हैं। स्वर मिला रहने पर एक का कम्पन वायु-तरंगों से प्रवाहित हो अन्य संवादी यन्त्रों पर प्रतिफलित हो उठता है। जब जड़ में इतनी शक्ति है तो क्या सुसंस्कृत एवं समाहित चेतन मन दूसरे संवादी मन पर अपनी छाप नहीं डाल सकता, जब कि इसी तरह वह भी अपनी मुक्ति का संकल्प रखता है!

फिर, शास्त्रों में कहा है : 'आत्मा वै जायते पुत्रः' अपनी आत्मा ही पुत्र रूप से प्रकट होती है। इस तरह भी पिता-पुत्र के आत्म-मन की स्वाभाविक एकता सिद्ध है। अतः पुत्र जब शुद्ध अवस्था में स्थित हो विशेष प्रकार की संस्कृत मनःशक्ति से परलोकगत माता-पिता का आवाहन करे, तो निश्चय ही उसके सुकृत्य का उन्हें लाभ मिलेगा। एक ओर सर्वदेवनिवासभूत ब्राह्मण और दूसरी ओर शुचिभूत एवं मनःशक्तिसम्पन्न पुत्र, दोनों के संकल्प जब मृत पितरों की सद्गति चाहेंगे तो जहाँ भी उद्दिष्ट पितर का मन होगा, वहाँ श्राद्धविधिबल से समनुगृहीत ये शुभ संकल्प पहुँचकर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहेंगे। वैसे भी चन्द्रमा मन का अधिष्ठातृ देवता है। अतएव मन का चन्द्रलोक से स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण भी चन्द्रलोकवासी पितरों के साथ श्राद्धकर्ता और भोक्ता की मानसिक क्रियाओं का सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है।

योगी, संसारत्यागी संन्यासी, महात्मा अपने मनोबल एवं आत्मबल से ही अपने पूर्वज पितरों का उद्धार कर देते हैं। योगादि साधनों द्वारा सुपुष्ट मनोबल प्राप्त होने से उन्हें गृहस्थों की तरह स्थूल श्राद्धों का आश्रय नहीं लेना पड़ता। मनोबल से स्मरणमात्र द्वारा वे पितरों को सूक्ष्म रूप से सब कुछ पहुँचाते और उनकी सद्गति कर देते हैं। इसके विपरीत सामान्य गृहस्थों को श्राद्ध द्वारा उतना मनोबल अर्जन कर उसका उपयोग करना पड़ता है। किसी भी प्रकार से देखें, यह सारा मनोबल का ही विलास है। यही मनःशक्ति है जो श्राद्ध में

पूरे सक्रिय रूप में काम करती है। फिर, श्राद्धकर्ता के जो पूर्वज किसी कुकर्मवश प्रेतयोनि में चले गये हैं, इधर-उधर भटक रहे हैं, अनिकेतन और अनाश्रित हो असह्य दुःख-महोदधि में निमग्न एवं नितान्त अशान्त हैं वे इस महनीय मनःशक्ति के प्रभाव से क्यों न प्रेतत्व से मुक्त हो जायें ?

दूसरी मन्त्रशक्ति की महिमा भी अपार है। इसके वर्णन के लिए महाभारत-सा ग्रन्थ रचें तब भी वह पूरा होगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता। संक्षेप में उसे यों समझा जा सकता है :

शब्द में सारे संसार को अपने अनुकूल बना लेने की शक्ति स्वभावसिद्ध है। आवश्यकता है उसे उद्बुद्ध करने की। उद्बुद्ध शब्दशक्ति का यदि विपरीत प्रयोग किया जाय तो सारे संसार को सर्वथा प्रतिकूल भी बनाया जा सकता है। प्रौढ वक्ता अपने ओजस्वी शब्दों से जनता को रक्त की नदियाँ तक बहाने के लिए तैयार कर सकता है और वही अपने उन्हीं शब्दों को करुणा से आप्लावित कर जनता के सामने रख दे तो जनता दया से सराबोर हो सकती है। आखिर आप स्तुति करने पर प्रसन्न और गाली देने पर रुष्ट क्यों हो जाते हैं, प्रत्यक्ष तो आपके शरीर पर कुछ प्रभाव नहीं होता ? कहना होगा कि यह शब्द की अचिन्त्य शक्ति है, उसकी महिमा अपार है।

इतिहास-पाठकों से अविदित नहीं कि आगरा के पास जब राणा-साँगा और बाबर की सेना का घनघोर युद्ध चल रहा था तो एक समय ऐसा आया कि राणा की धीरता-गंभीरता और युद्ध-चातुरी से बाबर के सैनिक हतवीर्य-से हो गये। तुरन्त बाबर ने उनके सामने एक ऐसा ओजस्वी भाषण दिया कि उन मृतप्राय सैनिकों का रक्त पुनः खौल उठा और वे दूने उत्साह से राणा के सैनिकों के साथ जूझने को तैयार हो गये। फलस्वरूप उस युद्ध में विजयलक्ष्मी ने बाबर को ही जयमाला पहनायी।

शब्द-शक्ति की महिमा कहाँ तक कही जाय। व्याध की वीणा के मधुर स्वर सुन चपल मृग भी एकदम आकृष्ट हो उनके जाल में फँस जाता है। साक्षात् कराल काल काला सर्प भी बीन के बोल सुन नाच उठता है। अब विचार करें कि स्थूल शब्दों में जब इतनी शक्ति है तो अपौरुषेय, नित्यनिर्विकार वैदिक मन्त्रात्मक दिव्य शब्दों में कितनी शक्ति होगी ! वे यदि शुचिभूत श्राद्धोपविष्ट स्वाध्यायशील ब्रह्मशक्ति के बेजोड़ ट्रांसमीटर से प्रसारित हों तो क्या मृत पुरुषों के कानों तक पहुँचकर उनका प्रेतत्व नष्ट न कर सकेंगे ? निस्सन्देह वे प्रेतयोनि में पतित मृत पुरुष को शान्ति और सद्गति देने की पूर्ण सामर्थ्य रखते हैं।

शास्त्रों में कहा है कि 'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः' अर्थात् मन्त्रों में ॐकार सर्वार्थसाधक है, सेतु है। सेतु के बँध जाने पर लंका जीतने में देर ही क्या? उसी ॐकार से सम्पुटित, पल्लवित दिव्य मन्त्रों का जब उच्चारण किया जायगा तो ब्राह्मणों के शरीर में वायुरूप से आकर प्रतिष्ठित मृत पुरुष निश्चय ही परितुष्ट होंगे और मन्त्रों के प्रभाव से उनका प्रेतत्व छूट जायगा।

श्राद्धकाल में इतने सर्वसमर्थ मन्त्रों की शब्दशक्ति तो रहती ही है; मनु महाराज के कथनानुसार स्वाध्याय अर्थात् अपनी वेदशाखा, धर्मशास्त्र, आख्यान, महाभारतादि इतिहास और निखिल पुराणादि की शब्दशक्तियाँ भी उसके साथ हो लेती हैं। वे कहते हैं कि श्राद्धीय पितरों को इन्हें भी सुनाना चाहिए। यथा :

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्रे धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च॥

इतने सारे सेनापति, कमाण्डर और चतुरंग बल से सम्पन्न प्रणवाभिमन्त्रित मन्त्रराज की वैदिक शब्दशक्ति का क्षुद्र प्रेत सामना ही क्या कर सकते हैं! श्लोक में कथित आख्यानों में कठोपनिषद् का नाचिकेतोपाख्यान सुनाने पर तो तत्काल मृत पुरुष प्रेतयोनि त्याग परमपद प्राप्त करता है, यह बात उसकी फलश्रुति में स्पष्ट कही गयी है :

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥
य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते॥

(कठो० १-३-१६,१७)

यह है शब्दशक्ति का प्रभाव!

तीसरी द्रव्यशक्ति भी मृत पुरुष को प्रेत-योनि से मुक्त करने की कम सामर्थ्य नहीं रखती। द्रव्यों में अलौकिक शक्ति निहित है। वैज्ञानिक विभिन्न द्रव्यों के संयोगों से उसे उद्‌बुद्ध कर तरह-तरह के चमत्कार आज दिखा ही रहे हैं। चिकित्सा-शास्त्र तो पूर्णतः द्रव्यशक्ति पर ही आधृत है। औषधियों की अद्‌भुत शक्ति से असाध्य रोग भी नष्ट हो जाते हैं। ब्राह्मी बूटी के सेवन से एकदम एकाग्रता आ जाती है तो भंग से शरीर में एकदम मस्ती छा जाती है। ये सब द्रव्य ही तो हैं। द्रव्यों का प्रभाव इतना है कि उन्हें पास में रखने

या शरीर में बांधने से ही रोग रुक जाते हैं। सहदेई की जड़ बांधने मात्र से ज्वर का भागना आप लोगों ने देखा-सुना ही होगा।

श्राद्ध में भी ऐसे ही पदार्थ लिये जाते हैं जिनकी शक्ति से पितरों की तृप्ति हो जाय। गजच्छाया योग के समय मधुमिश्रित द्रव्य देने पर पितरों की अक्षय तृप्ति बतायी गयी है। घृत-दुग्ध आदि में ऐसी शक्ति है कि श्राद्ध में उनके प्रयोग से पितरों की शीघ्रातिशीघ्र तृप्ति हो जाती है। ऋषियों ने द्रव्यों की शक्ति का सूक्ष्म विचार करके ही ये सब पदार्थ श्राद्ध में ब्राह्मणों को खिलाने के लिए चुने हैं। श्राद्ध में तिलोदक, कुश आदि का चुनाव भी उनकी अद्भुत द्रव्यशक्ति देखकर ही किया गया है।

एक बात ध्यान रखने की है कि इन सब द्रव्यों का शुद्ध भाव और श्रद्धा-भाव के साथ श्राद्ध में प्रयोग किया जाय तभी ये अपनी शक्ति प्रकट कर सकते हैं और उससे मृत पुरुषों का प्रेतत्व नष्ट हो सकता है। श्राद्ध का प्राण श्रद्धा ही है, जो अध्यात्म-विज्ञान का सर्व-प्रमुख मौलिक तत्त्व है। यदि उसी तत्त्व का श्राद्ध में अभाव रहे और केवल दिखाने के लिए सारा आडम्बर रचा जाय तो यह द्रव्यशक्ति न तो कभी उद्बुद्ध हो सकती और न मृत पुरुष का प्रेतत्व ही नष्ट हो सकता है। जैसे भौतिक विज्ञान के किसी फार्मूले में परिगणित अन्य सभी द्रव्यों का योग करने पर भी मुख्यतम द्रव्य का बहिष्कार कर दें तो वह रसायन बन ही नहीं पाता और न उस योग से रोग ही नष्ट होता है। प्रत्युत उसे देने पर बिना औषधि के दीर्घ काल में अच्छा हो सकने वाला रोगी कदाचित् मर भी सकता है। इसी तरह श्रद्धा-विरहित इन द्रव्यों से मृत पुरुष का प्रेतत्व नष्ट होना तो दूर रहा, उसके और भी निम्न स्तर में जाने का भय रहता है, अनिष्ट भी संभावित है।

सज्जनो,

हम आपको बता रहे थे कि श्राद्ध मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्ति का त्रिवेणी-संगम है। इसकी धार में उन्मज्जन कराया गया किसी भी गति में पड़ा मृत पुरुष तत्काल दिव्य देह धारण कर 'तद्विष्णोः परमं पदम्' पहुँच जाता है। तीनों श्राद्ध की मूल भित्तियाँ हैं जो विज्ञान की किसी भी कसौटी पर खरी उतर सकती हैं और आज तक खरी उतरती आयी हैं। इनकी वैज्ञानिकता बताने के लिए नमूने के तौर पर आपको कुछ बातें बतायी गयीं। आप इनका जितना ही गहरा विश्लेषण करेंगे, हमें विश्वास है कि वे उतनी ही निखर कर तप्त काञ्चन की तरह परम तेजस्वी सिद्ध होंगी।

अब आप श्राद्ध के काल का परीक्षण अर्थात् अमावास्या को ही महीने में एक बार पितरों का श्राद्ध क्यों किया जाता है और आश्विन कृष्णपक्ष को ही पितृपक्ष क्यों माना जाता है, इस पर विचार करें। इसके लिए पहले भगवान् के प्राकृतिक साम्राज्य की शासन-व्यवस्था समझनी आवश्यक है।

हम पहले कह चुके हैं कि ईश्वर के प्राकृतिक साम्राज्य में देव, ऋषि और पितरों का बहुत बड़ा स्थान है। इनमें ऋषियों का तो ज्ञान के क्षेत्र में एकाधिकार है। प्रत्यक्ष शासन के क्षेत्र में देव और पितरों का ही विशेष संपर्क है। इनके बीच आपस में कभी किसी प्रकार का मतभेद न खड़ा हो; दोनों का शासन ठीक-ठीक चले और इस तरह दोनों की सम्मिलित शासकीय शक्ति का लाभ प्राकृतिक साम्राज्य को मिल सके, इस दृष्टि से उस जगत्सूत्रधार लीला-नटनागर ने देव और पितर दोनों के स्वभाव और सुविधा देख उनके शासन के अलग-अलग काल नियत कर दिये। एक के शासन-काल में उसी का शासन चले, दूसरा तत्कालीन शासक के ही अनुशासन में रहे, भले ही वह अपने काल का सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र शासक हो—इसकी पूरी-पूरी व्यवस्था कर दी। यह उस सर्व-बुद्धि-नियन्ता की कितनी बड़ी बुद्धिमत्ता है!

हाँ, तो भगवान् के इस संकेत के अनुसार दिन का पूर्वाह्ण-काल मिला देवों को, तो अपराह्ण मिला पितरों को। पक्ष में शुक्लपक्ष मिल गया देवों को, तो कृष्णपक्ष मिला पितरों को। ऋतुओं में वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा मिली देवों को, तो शरद्, हेमन्त और शिशिर पितरों को। उत्तरायण मिला देवों को तो दक्षिणायन पितरों को। ये अपने-अपने काल में बड़ी चुस्ती के साथ जाने कब से शासन चलाते आ रहे हैं और प्रभु का यह प्राकृतिक अखण्ड साम्राज्य सुव्यवस्थित चल रहा है। शतपथ ब्राह्मण (२-१-३-१) भी देवों एवं पितरों के इस शासन-काल के विभाजन का साक्षी है :

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा। ते देवाऽऋतवः। शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवा, योऽपक्षीयते स पितरः ··· पुनरह्नः पूर्वाह्ण देवा अपराह्णः पितरः।

अब देखना है कि महीने में एक बार अमावास्या को ही पितरों का श्राद्ध क्यों किया जाता है? इसे यों समझें : हम मानवों और पितरों की दिन-रात्रि में बहुत अन्तर है। जब इसी भूमण्डल के सुदूरवर्ती प्रदेशों में दिन-रात्रि में महान् अन्तर पड़ जाता है तो यहाँ से कितनी ही दूर, चन्द्रलोक के निकट रहनेवाले पितरों के अहोरात्र में अन्तर स्वाभाविक ही है। यह तो आप जानते

ही हैं कि सूर्य हमारे भू-मण्डल से बहुत दूर है। वह जब उदित होता है, दीखने लगता है, तो उस काल को हम पूर्वाह्ण कहते हैं; जब वह हमारे सिर पर, मध्य में आता है तो मध्याह्न और जबसे वह गिरने लगता है तबसे डूबने तक के काल को अपराह्ण कहते हैं। इस तरह हमारा एक दिन होता है। शेष सूर्य के अदर्शन का काल रात्रि है। किन्तु चन्द्रमण्डल, चन्द्रलोक और सूर्य के बीच इतना अन्तर नहीं जितना कि हमारे भूमण्डल और सूर्य के बीच है। अतः हमें सूर्य कम दीखता है किन्तु पितरों को अधिक। यह तो सभी मानते हैं कि दृष्टि के निरोधकों में दूरी भी एक बहुत बड़ा निरोधक है। आपको आश्चर्य होगा पर तथ्य यह है कि हमारे १५ दिनों तक पितरों को निरन्तर सूर्य दीखता रहता है। इसलिए हमारे महीने के १५ दिन उनका १ दिन और शेष १५ दिन उनकी १ रात होती है। अर्थात् हमारे एक मास में उनका मात्र एक अहोरात्र बीतता है!

हम समझते हैं कि अब आपकी इस शंका का समाधान हो गया होगा कि पितरों को हमें महीने में एक बार ही क्यों खिलाना पड़ता है और उतने से ही उनका पेट कैसे भर जाता है, जब कि हमें इस बीच अधिक नहीं तो ६० या कम से कम ३० बार भोजन करना पड़ता है।

अब आगे देखिये कि यह तिथि अमावास्या ही क्यों? प्रायः हम अमावास्या उसी तिथि को कहते हैं जिस दिन चन्द्रमा नहीं दीखता। इसका कारण यह बताया जाता है कि सूर्य ठीक चन्द्र के सिर पर आ जाता है और चन्द्र सूर्य के तेज से अभिभूत हो जाता है।··उसके अगल-बगल रहने पर चन्द्र को सूर्य की किरणें मिल पाती हैं जिनसे वह प्रकाशित होता रहता है। सूर्य सिर पर आने से चन्द्र को उसकी किरणें नहीं मिलतीं जिससे उसका पिछला भाग, जो हमें साधारणतः अन्य दिनों में दिखाई पड़ता है, उस दिन—अमावास्या को दिखाई नहीं देता।

पितरों के यहाँ, जो कि चन्द्रलोक के निकटवासी हैं, इस दिन सूर्य ठीक सिर पर आ जाता है। साधारणतया कृष्णपक्ष को पितरों का दिन और शुक्लपक्ष को उनकी रात्रि कहा जाता है। पर सभी शास्त्रीय वचनों की एक-वाक्यता से यह सिद्ध होता है कि कृष्णपक्ष की अष्टमी से शुक्लपक्ष की अष्टमी तक पितरों का दिन और शुक्लाष्टमी से कृष्णाष्टमी तक उनकी रात होती है। इस तरह जब हमारी अमावास्या के दिन पितरों के यहाँ सूर्य सिर पर दीखता है तो वह पितरों का मध्याह्न, उसके पूर्व के हमारी कृष्णाष्टमी से कृष्ण चतुर्दशी तक के दिन उनका पूर्वार्द्ध और हमारी शुक्ल प्रतिपद् से शुक्लाष्टमी

तक के दिन उनका अपराह्ण स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। अर्थात् हमारी अमावास्या तिथि हुई पितरों का मध्याह्न-काल।[1]

अब आप समझ गए होंगे कि हम अमावास्या को ही पितरों को श्राद्धान्न देने का जो आग्रह करते हैं वह सर्वथा उचित एवं युक्ति-युक्त है, भोजन का मुख्यकाल भी मध्याह्न ही है। अमावास्या को ही पितरों का श्राद्ध करने की यही वैज्ञानिक उपपत्ति है।

अमावास्या को ही पितरों की श्राद्ध-तिथि मानने में एक और मजेदार उपपत्ति बतायी जा सकती है। देवताओं का आहार सोम है। वे शुक्लपक्ष से कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तक चन्द्र की कला का पान करते हैं। अमावास्या को चन्द्र सूर्य से अभिभूत हो जाने से नहीं दीखता तो उस दिन देवता उसका पान नहीं कर पाते। इधर पितरों को दिया जानेवाला अन्न भी सोमप्रधान ही होता है और उनके पोषणार्थ वैसा ही अन्न उन्हें देने का विधान है। 'पितरः सोम्यासः' 'सोमाय पितृमते' आदि वेदवचनःप्रसिद्ध ही हैं। तो, बात यह हुई कि यदि हम देवों के खाद्य सोमप्रधान अन्न को देवों द्वारा चन्द्र का

---

१. वैज्ञानिक भाषा में सूर्य का भ्रमण माननेवालों की दृष्टि से इसका कारण वक्रता है। अर्थात् अर्धाकाश ही दृश्याकाश है। उस भाग में जब तक सूर्य-चन्द्र दोनों रहते हैं तब तक चन्द्रमण्डलस्थ प्राणियों को सूर्य-दर्शन होता है। दूसरे गोलार्ध में चले जाने पर वक्रतावश सूर्य-दर्शन नहीं होता। कृष्णपक्ष की अष्टमी से शुक्लाष्टमी तक उन्हें इसीलिए सूर्य-दर्शन होता है कि उस बीच सूर्य-चन्द्र एक गोलार्ध में रहते हैं। शुक्लाष्टमी से कृष्णाष्टमी तक भिन्न गोलार्ध में रहने से चन्द्रमण्डलस्थित प्राणी सूर्यदर्शन नहीं कर पाते।

भू-भ्रमणवादियों का मत है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर भ्रमण करती है और चन्द्र पृथ्वी के चारों ओर। फलतः जब तक चन्द्र भूमि और सूर्य के मध्य कहीं भी रहता है, वहाँ रहनेवालों को सूर्य-दर्शन होता रहता है। साथ ही चन्द्र के अंशों पर प्रकाश पड़ने से हम भी चन्द्र-दर्शन कर पाते हैं। किन्तु जब चन्द्र भ्रमण करता हुआ सूर्य की विपरीत दिशा में आ जाता है, दूसरे शब्दों में सूर्य और चन्द्र के बीच पृथ्वी आ जाती है तो चन्द्रमण्डलस्थ प्राणियों को सूर्य-दर्शन नहीं होता। अमा को चन्द्र ठीक सूर्य के सामने रहता है। अतः वह पितरों का मध्याह्न है, जब कि हमारी ओर से चन्द्र पर सूर्य-किरणें न पड़ने से अप्रकाशित, अतएव नष्टेन्दु-कला कुहू या अमावास्या हो जाती है।

इस तरह दोनों मतों से अमावास्या पितरों का मध्याह्न सिद्ध हो जाता है।

पान किए जाते समय पितरों को दें तो देव ईर्ष्या से तिलमिला उठेंगे कि यह हमारा अन्न दूसरों को देता है। फलतः उनके द्वारा इसकी प्रतिक्रिया भी हो सकती है और बेचारे पितरों को हमारा अन्न पहुँचने में कदाचित् बाधा भी संभव है। पर अमावास्या के दिन पितरों को सोमप्रधान अन्न देने पर यह आशंका ही नहीं रह जाती। चन्द्र के लोप से उस दिन देव सामने नहीं रहते, मानो आहार की आशा न होने से एकान्त मे निर्जल-व्रत लिये पड़े हों। इस बीच श्राद्धकर्ता पितरों को अन्न देता है तो यह उनकी दृष्टि से बचकर चुपचाप निराबाध उन्हें पहुँच जाता है। बेचारे श्राद्ध-कर्ता का काम बन जाता है और उसे देवों का कोपभाजन भी नहीं बनना पड़ता। इस कल्पना का सूत्र शतपथ के इस मन्त्र में मिलता है :

स वा एतन्मासि मास्येव पितृभ्यो ददाति यदैवैष न पुरस्तात् न पश्चात् ददृशे तथैभ्यो ददाति। एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः, स एतां रात्रिं क्षीयते। तस्मिन् क्षीणे ददाति। तथैभ्योऽसमदं करोति। अथ यदक्षीणे दद्यात् समदं ह कुर्याद्, देवेभ्यश्च। तस्माद्यदैवैष न पुरस्तात् न पश्चाद् ददृशेऽथैभ्यो ददाति।

(शतपथ २-४-२-७)

सज्जनो,

अब यह देखना होगा कि आश्विन कृष्णपक्ष में ही पितृपक्ष क्यों मनाया जाता है। इसके लिये अब आपको इतना बुद्धि का व्यायाम नहीं करना पड़ेगा। हम अभी-अभी बता आये हैं कि कृष्णपक्ष, शरदादि तीन ऋतुएँ और दक्षिणायन पितरों का राज्यकाल होता है। तीनों ऋतुओं में शरद्ऋतु प्रथम होने से वही उनका राज्यारंभकाल माना जाता है। यह ऋतु आती है आश्विन कृष्ण-पक्ष में ही। इस तरह उस समय दक्षिणायन, शरद्ऋतु, कृष्णपक्ष आदि सभी मिलकर राजयोग, पितृयोग बन जाता है। शतपथ में कहा गया है कि 'ऋतवः पितरः' (शतपथ २-४-२-२४)। वहाँ पितरों को ऋतु-रूप माना है। दूसरे शब्दों में ऋतुओं में परिवर्तन करने का काम पितरों का ही है, जिस पर हमारा स्वास्थ्य निर्भर रहता है। ऐसे ऋतु-नियन्ता, शरत् के राजा पितरों के नवराज्याभिषेक के अवसर पर हम उनकी प्रजा उनका स्वागत-समारोह न करें, यह कोई अच्छी बात नहीं। यही कारण है कि हमारे आचार्यों ने पितरों के स्वागत के लिए आश्विन कृष्णपक्ष ही सर्वोत्तम काल के रूप में चुना। यह पितृपक्ष या महालय उनका स्वागत-समारोह ही है।

अब आप कह सकते हैं कि इस स्वागत के लिए इतने अधिक दिन, पूरा पक्ष, महीने का आधा हिस्सा क्यों खर्च किया जाता है ? एक-दो दिन ही पर्याप्त हैं। इसका भी सीधा-सा उत्तर है। जो जितना बड़ा होता है उसका स्वागत भी उसी अनुपात में, उसके व्यक्तित्व के अनुरूप ही करना पड़ता है। सामान्य जन घर आ जाता है तो उसका गुड़-पानी से स्वागत होता है। पर जब कोई बड़ा श्रीमान् व्यक्ति आये तो उसके स्वागत के लिए मिठाई ही मँगानी पड़ती है। आप ही सोचिये, हम जब तक जियें तभी तक क्यों, जब तक सूर्य-चन्द्र रहें तब तक पूरे छह महीनों के एकच्छत्र राजा का, अपने स्वास्थ्य के नियन्ता का और जिसका चक्र—दरबारी अधिकारी, सभासद्, सहायक भृत्य—कतिपय ही नहीं असंख्य हो उसका पन्द्रह दिनों का स्वागत क्या कोई बड़ी बात है ! आप यह भी जानते ही हैं कि कोई रोज भले ही एकबार खाये, पर उत्सव-समारोहों में दिन-रात कलेवे, जलपान, भोजन, ब्यालू, पार्टियाँ भोग चलते ही रहते हैं। तब १५-१६ दिन केवल एक बार ऐसे उत्सव पर पितरों को खिला ही दिया तो आपने कौन-सा बड़ा पुरुषार्थ किया ! इसलिए स्पष्ट है कि ऐसे महान् शासक के लिए यह पक्षव्यापी उत्सव सर्वथा अनुरूप ही है।

आश्विन कृष्ण के पितृपक्ष होने में एक और भी मार्मिक उपपत्ति है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार मेष राशि के सूर्य उच्च और कन्याराशि के सूर्य नीच माने जाते हैं। आश्विन कृष्णपक्ष का श्राद्ध भी 'कन्यागत' श्राद्ध कहा जाता है अर्थात् उस समय सूर्य कन्या राशि पर रहता है। इस कन्यागत श्राद्ध को धर्मशास्त्रों में अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। वेदमन्त्र तक इसकी महिमा गाते नहीं अघाते। अथर्ववेद कहता है :

सर्वांस्ता अवरुन्धन् स्वर्गः षष्ठ्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात्।

(अथर्व० १२-३-४१)

अर्थात् शरद् ऋतु में छठी संक्रान्ति (कन्या) में जो अभीप्सित वस्तुएँ पितरों को प्रदान की जाती हैं वे सब स्वर्ग को देने वाली हैं।

अब प्रश्न होगा कि इस कन्या-संक्रान्ति में श्राद्ध का इतना आग्रह क्यों ? कहना होगा कि उस राशि में सूर्य का नीच होना ही इस आग्रह का हेतु है। अभी-अभी जो मेष के सूर्य को उच्च और कन्या के सूर्य को नीच कहा गया है उसका तात्पर्य यही है कि मेष-संक्रमण के समय सूर्य पृथ्वी से अपनी नियत ऊँचाई से भी ऊँचा उठ जाता है और कन्या-संक्रमण में वह पृथ्वी से अपनी

नियत ऊँचाई से नीचे उतर आता है। इतना ही नहीं, कहा गया है कि कन्या के १०.वें अंश से (आगे की राशि) तुला के १० वें अंश तक तो सूर्य पृथ्वी से और भी नीचे, निम्नतम कक्षा में आ जाता है। प्रत्येक राशि ३० अंशों की होती है। यही कारण है कि किसी कारण कदाचित् कोई यह महालय-श्राद्ध आश्विन कृष्ण पक्ष में न कर पाये तो वह पूरे कन्या-संक्रमण तक, यहाँ तक कि 'यावद् वृश्चिकदर्शनम्' वृश्चिक-संक्रान्ति लगने तक पिता की मृत्युतिथि को महालय का अपकर्ष श्राद्ध कर सकता है, ऐसा भी शास्त्रों में बताया है।

अब यह भी समझें कि शास्त्रीय मान्यता के अनुसार पृथ्वी पर किया जाने वाला कोई भी यज्ञ-यागादि कर्म पहले सूर्य-मण्डल के हेड पोस्ट-आफिस में पहुँचता है, फिर वहाँ से उसकी शार्टिंग होती है और वह तत्तत् स्थानों पर बँटता है। तो, इस कन्यागत रवि में आश्विन कृष्णपक्ष में, जो पितरों का राज्यारंभ काल है, यदि हम पितरों का श्राद्ध करते हैं, हव्य-कव्य देते हैं, तो वह अन्य दिनों की अपेक्षा इस समय शीघ्र सूर्य के पास पहुँच जाता है। कारण, पृथ्वी से उसका फासला इन दिनों बहुत कम रह जाता है। फलतः पितरों तक उसके बँटने में भी शीघ्रता हो जाती है। देवों को दिया जाने वाला हव्य भी पहले सूर्य के पास ही पहुँचता है। पर वहाँ से उसे देवों को मिलने में देर नहीं लगती। कारण, देव उसी के टाउन में, नगर में बसते हैं। देवलोक की स्थिति सूर्यकक्षा के अन्तर्गत ही मानी गयी है, जब कि पितरों का लोक उससे दूर चन्द्रकक्षा के निकट है। आश्विन कृष्णपक्ष में पितृपक्ष मनाने का यह भी एक कारण है।

सज्जनो,

अब आप श्राद्ध की विधि का परीक्षण करें। इसमें पहली बात है तीन पीढ़ी तक के ही पितरों को पिण्डादि-दान और दूसरी है पिण्डदान से पितृ-तृप्ति का सम्बन्ध। क्रमशः इन्हें देखें।

सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है कि महालय के अतिरिक्त सभी पार्वणादि श्राद्धों में पिता, पितामह और प्रपितामह को ही स्वतन्त्र पिण्ड क्यों दिये जाते हैं, उन्हीं के नाम-गोत्र का उच्चारण कर जलादि-दान क्यों होता है? यदि दिया जाय तो जितने सारे पितर हैं सब को दें, प्रपितामह के बाप ने कौन-सा पाप किया जो उसका एकदम बहिष्कार कर देते हैं! या सीधे केवल पिता को ही दें। आखिर यह पक्षपात क्यों?

इसका सीधा-सा एक उत्तर यह है कि पितृलोक में जाने कहाँ-कहाँ के अनन्त पितर पहुँचते हैं। हमारा दिया पिण्डादि-दान हमारे पिता को ही पहुँचे,

इसका क्या भरोसा ? इसीलिए पिता के साथ उसके पिता का (पितामह का) नाम जोड़ दिया जाता है, उसे भी ले लिया जाता है। व्यवहार में वल्दियत लिखने का भी यही भाव है। गिरिधारी लाल को कोई वस्तु देनी हो तो वह उसे ही मिले, यह अत्यावश्यक है। पर उस नाम के तो संसार में अनेक होंगे, इसीलिए वल्दियत उसमें जोड़ देते हैं। अर्थात् मुकुन्द के पुत्र गिरिधारी लाल कहने पर वही अभीष्ट पुरुष आयेगा। अन्य किसी गिरिधारी लाल के पिता का वह नाम संभव नहीं।

पितृश्राद्ध में प्रपितामह का नाम भी जोड़ दिया जाता है क्योंकि पितृलोक बहुत दूर है और वहाँ असंख्य पितर हैं। अतः भय रहता है कि कहीं दूसरे गिरिधारी लाल के पिता का भी नाम मुकुन्द न निकल आये और इस तरह हमारे अभीष्ट गिरिधारी लाल का हिस्सा दूसरे को न मिल जाय। इसीलिए श्राद्ध में पितृ-पिहामह-प्रपितामह तीनों के नाम से काम चलता है। गिरिधारी लाल के पिता मुकुन्द और उनके पिता वासुदेव भी ले लिये जाते हैं। अब तीन पीढ़ी तक एक नाम वाला तो कोई निकल ही नहीं सकता। फलतः हमारा दिया हुआ अन्न-जलादि ठीक-ठीक अभीष्ट व्यक्ति को पहुँच जायगा।

कोई कहे कि कहीं ऐसा भी कोई निकल आये जिसकी तीनों पीढ़ियों के बराबर वे ही नाम हों जो गिरिधारी लाल के हैं, तब क्या करेंगे ? क्या चौथा भी पुरुष जोड़ेंगे ? इस तरह तो कहीं सीमा ही न रहेगी। और ऐसा होता भी नहीं। केवल तीन ही पुरुषों के नाम आप लेते हैं। यह तो भूख लगने पर लहसुन खाने जैसा हुआ। तो कहना होगा कि पहले तो ऐसा उदाहरण मिलेगा नहीं। दुर्भाग्य से मिल भी जाय तो पिता के साथ पिण्ड पानेवाले पितामह, प्रपितामह कहाँ गये हैं ? उसमें हिस्सा तो उनका भी लगनेवाला ही है। सामान्य व्यवहार में भी किसी विवादग्रस्त विषय पर दो साथियों के साक्ष्य पर न्यायाधीश उस पक्ष की बात मान लेता है। पितामह, प्रपितामह ही पितृदेव अर्यमादि के दरबार में अपनी गवाह देकर अभीष्ट गिरिधारी लाल को उसके पुत्र द्वारा प्रदत्त अन्न-पानादि पहुँचने में पूरी-पूरी सहायता करेंगे। इसके लिए आप कोई चिन्ता न करें और अपने पिता को ठीक-ठीक अन्न पहुँचाने के निमित्त दो साक्षी के तौर पर रखने के लिए श्राद्ध में पितामह और प्रपितामह को कभी न भूलें।

एक और भी दृष्टि है जिसके अनुसार पिता, पितामह और प्रपितामह तीनों के ही श्राद्ध में ग्रहण करने का औचित्य स्पष्ट हो जाता है। हमारे पितरों

के अधिष्ठाता देव भी तीन हैं : वसु, रुद्र, आदित्य। सत्त्व, रज और तम तीन गुण होने से देवता भी तीन ही हैं : 'तिस्र एव देवताः' (निरुक्त)। विवाह में भी वर-वधू की तीन-तीन पीढ़ियों के पुरुषों का ही उच्चारण होता है। इस प्रकार पुरुषों का त्रित्व व्यवहार में बहु प्रचारित है। तब श्राद्ध में भी पिता पितामह, प्रपितामह इन तीन पुरुषों का उच्चारण होता है तो वह व्यवहारानुकूल ही माना जाएगा। इतना ही नहीं, वेद भी तीन पुरुषों का उल्लेख करता है :

येन पितुः पितरो ये पितामहा तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम।

(अथर्व० १८-२-४९)

अर्थात् पितृ, पितामह, प्रपितामह को हम श्राद्ध से तृप्त करते हैं। यही सब सोचकर ही तो आद्य धर्म-संहिताकार महाराज मनु कहते हैं कि पिता, पितामह और प्रपितामह तीन पुरुषों को ही पिण्ड और जल का दान करना चाहिए। चौथा स्वयं देनेवाला ही है। पाँचवें की श्राद्ध में कोई आवश्यकता नहीं :

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते।

चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते॥

(मनु० ९-१८६)

वास्तव में श्राद्ध में तीन ही पुरुषों के ग्रहण की एक अद्भुत वैज्ञानिक उपपत्ति है। कोई किसी को तभी मानता है जब कोई सम्बन्ध, नाता होता है। सम्बन्ध भी जितना अधिक हो, सम्मान भी उतना ही बढ़ जाता है। श्राद्ध में अपने परम पूज्य पितरों के स्थान पर किसी को बैठाने के लिए सम्बन्ध भी उतना गहरा होना चाहिए। इस दृष्टि से देखें तो तीन पीढ़ी के बाद के पुरुषों से श्राद्धकर्ता का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं आता। सातवीं पीढ़ी के बाद तो गोत्र एक होते हुए भी सापिण्ड्य सर्वथा समाप्त हो जाता है और विधिवत् उसे तोड़ देने पर जन्म-मरण के आशौच का भी सम्बन्ध नहीं रह जाता।

जिस सम्बन्ध की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं वह कोई और न होकर शुक्र-सम्बन्ध ही है। इसे यों समझा जा सकता है : यह तो सभी जानते हैं कि मानव की उत्पत्ति पिता के शुक्र से होती है। दूसरे शब्दों में मनुष्य में सन्तानोत्पादक शक्तियुक्त धातु शुक्र ही है। इस शुक्र धातु में वैज्ञानिकों ने कुल ८४ अंश माने हैं, जिनमें २८ अंश उसके अपने अन्न-पानादि द्वारा उपार्जित होते हैं और शेष ५६ अंश पूर्वजों द्वारा प्राप्त। इस तरह (५६+२८=८४) अंशों की संख्या पूरी हो जाती है। अब देखना होगा कि ये ५६ अंश पूर्वजों से किस-

किस क्रम से आते हैं। तो, बताया गया है कि अपने पिता से २१, पितामह से १५, प्रपितामह से १०, चौथे पुरुष से ६, पाँचवें से ३ और छठे पुरुष से १ अंश। इस तरह (२१+१५+१०+६+३+१=५६) छप्पन अंश होते हैं।

अब मान लीजिये, गिरिधारी लाल जब अपने पुत्र गोपाल को अंश प्रदान करेगा तो अपने २८ अंशों में से २१ अंश देगा, उनमें से ७ अंश इसके पास शेष रहेंगे। उसे अपने पूर्वजों से ५६ अंश प्राप्त हैं, उनमें से वह अपने पुत्र को ३५ अंश देगा और २१ उसके पास रहेंगे। दूसर शब्दों में इसका २८ अंशों का मूलधन यथावत् बना रहेगा। ३५ अंशों का विभाजन-क्रम इस प्रकार होगा : अपने पिता (गोपाल के पितामह) से १५, अपने पितामह (गोपाल के प्रपितामह) से १०, अपने प्रपितामह (गोपाल के चतुर्थ पुरुष) से ६, अपने चतुर्थ (गोपाल के पञ्चम पुरुष) से ३, अपने पञ्चम (गोपाल के षष्ठ पुरुष) से १ और अपने षष्ठ (गोपाल के सप्तम पुरुष) से कुछ नहीं। अर्थात् पितासहित ६ पुरुषों का उसका सम्बन्ध रह जाता है। यही क्रम आगे की प्रजा में भी चलेगा। अन्तिम-अन्तिम एक पुरुष से नाता टूटता जायगा।

इस तरह मनुष्य की अपनी छह पीढ़ियों से साक्षात् शुक्रसम्बन्ध रहता है। अपने सहित सात पुरुषों का यही सापिण्ड्य सम्बन्ध है। फिर भी इनमें घनी-भूत होकर पिण्ड बनाने की शक्ति २१, १५ और १० अंशों में ही मानी गयी है। दस से कम का घनीभाव होकर पिण्ड ही क्या बनेगा? वे तो शरीर-निर्माण में नगण्य-से अंश हैं। ये तीन अंश देनेवाले क्रमशः पिता पितामह और प्रपितामह ही हैं। यही कारण है कि श्राद्ध में इन्हीं के नाम लिये जाते हैं और इन्हीं को पिण्ड दिये जाते हैं।

इस प्रक्रिया को जान लेने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पुत्र का दिया अन्न-जलादि पिता को कैसे पहुँचता है। भौतिक साधनों से जब पिता का अंश पुत्र को शुक्र रूप में मिलता है तो कोई कारण नहीं कि श्राद्ध-रूप वैदिक विधि से पुत्र का दिया अन्नादि सूक्ष्म रूप बनकर पिता को न मिले। दोनों में सूत्र-सम्बन्ध होने से ही यह सम्भव हो पाता है। यह उन लोगों के भी समाधान का विषय है जो व्यर्थ का कुतर्क प्रस्तुत करते हैं कि स्वर्गस्थ पिता को पुत्र का यहाँ दिया हुआ मिल जाता है तो प्रवासी पिता के लिए घर पर ही ब्राह्मण क्यों नहीं जिमा दिया जाता, क्योंकर उसके साथ पाथेय बाँधने और ढोने का कष्ट उठाया जाता है!

सज्जनो,

इस विवेचन से आप भली-भाँति समझ गये होंगे कि श्राद्ध की विधि में पितृ, पितामह और प्रपितामह तीन ही पुरुष क्यों लिये जाते हैं। अब आप पिण्डदान से पितृ-तृप्ति के वैज्ञानिक रहस्य पर ध्यान दें।

इसके लिए पिण्डदान और उसका रहस्य समझना होगा। जब प्राणी मर जाता है तो उसका पाञ्च-भौतिक शरीर यहीं रह जाता है और बाद में जला दिया जाता है। केवल कर्माधिष्ठान सूक्ष्म शरीर लोकान्तर के लिए प्रस्थान करता है। पर सूक्ष्म शरीर का स्वभाव है कि वह पैदल नहीं चलता। उसे शिविका या पालकी चाहिए। यह पालकी है स्थूल भूतों के कतिपय परमाणु, स्थूल शरीर का अंगुष्ठमात्र भाग, जो अनुशय रूप है, जिसे 'भूत-सूक्ष्म' कहते हैं।[1] इसी पर चढ़कर वह जाता है। फिर भी अतिकृशता के कारण वह भूत-सूक्ष्म (आतिवाहिक शरीर) भोगक्षम नहीं होता। इसीलिए उसके वंशज पुत्रादि मृतक का भोगायतन शरीर बनाने के लिए पिण्डदान करते हैं।

इसी क्रम में शवदाह से पूर्व ५ पिण्ड दिये जाते हैं जिनके नाम हैं: १. शव, २. पान्थक, ३. खेचर, ४. भूत और ५. साधक। ये पञ्च-भूतों के प्रतीक हैं। फिर दस दिन तक १० पिण्ड दिये जाते हैं जिन्हें 'दशगात्र' कहते हैं। इन्हें देने से तात्पर्य मृतक के गात्र, भोगायतन शरीर बनाने से है। इन पिण्डों के नाम हैं: १. शिरः-पूरक, २. कर्णाक्षि-नासिका-पूरक, ३. गलांस-भुज-वक्षःपूरक, ४. नाभि-लिङ्ग-गुदा-पूरक, ५. जानु-जंघा-पाद-पूरक, ६. मर्म-पूरक, ७. सर्व-नाड़ी-पूरक, ८. दन्त-पूरक, ९. बल-वीर्य-ओजः-पूरक और १०. क्षुधा-पूरक। इस बीच चौथे दिन अस्थि-संचय के समय एक पिण्ड और दिया जाता है जो अन्तःकरण का प्रतीक है।

इस तरह १० दिनों तक १६ पिण्ड दिये जाते हैं। इन्हें 'मलिन षोडशी' कहते हैं। कारण, आशौच में ही इन पिण्डों का दान होता है। इतने पिण्ड देने पर मान लिया जाता है कि मृतक का भोगायतन शरीर साङ्ग बन गया। फिर आशौच छूटने पर ११ वें दिन पुनः १६ पिण्ड दिये जाते हैं, जिन्हें 'मध्यम षोडशी' कहते हैं। पश्चात् वार्षिक श्राद्ध पर्यन्त यथासमय पुनः १६

---

१. इसका विस्तृत विवेचन वेदान्तदर्शन के 'रंहति संपरिष्वक्तः' (३-१-१) सूत्र में द्रष्टव्य है। इसका अर्थ है कि लिङ्गशरीरविशिष्ट जीवात्मा लिङ्गशरीर के शिविकास्थानीय भूतसूक्ष्म के साथ जाता है।

पिण्ड दिये जाते हैं, जिसे 'उत्तम षोडशी' कहते हैं। प्रथम जब १६ पिण्डों से भोगायतन शरीर बन गया तो 'मध्यम षोडशी' पिण्डदान का तात्पर्य मृतक के सूक्ष्म-शरीर की पुष्टि से है और तीसरी 'उत्तम षोडशी' पिण्डदान कारण-शरीर की पुष्टि का उपलक्षक है। अर्थात् पुत्र अपनी ओर से मृत पिता को इन षोडशीत्रय के ४८ पिण्ड देकर अपनी ओर से उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर तीनों को सुपुष्ट बना देता है, ताकि वह जहाँ जाना चाहे, स्वतन्त्रता-पूर्वक जा सके। यह तो सभी जानते हैं कि प्राणी के तीन शरीर हुआ करते हैं : १, स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. कारण। तीनों शरीरों से सम्पन्न प्राणी ही सर्वांगपूर्ण कहा जा सकता है। पिण्डों की यह १६ संख्या 'षोडश-कलः पुरुषः' का ही संकेत करती है। अर्थात् षोडशी श्राद्ध से वह जीवात्मा षोडशकला-पूर्ण, समग्र बन जाता है और निरुद्देश्य इधर-उधर न भटककर अपने कर्मानुरूप गति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

हमारे इस निरूपण की वेद भी सूत्ररूप में पुष्टि करता है :

यद्वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः।
तद्व एतत्पुनराप्याययति·साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् ॥

अथर्व० १८-४-६४)

गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि।

(अथर्व० १८-४-५२)

अर्थात् 'पितरो ! जातवेदा अग्नि ने पितृलोक पहुँचाते हुए (दाह के समय) आपके जो अङ्ग-प्रत्यङ्ग जला डाले, इस पिण्डदान कर्म-द्वारा हम पुनः आपके उन अङ्गों को आप्यायित करते हैं। इससे आप सर्वाङ्गसम्पन्न हो स्वर्ग में आनन्द का अनुभव करें।' 'हे मृतक प्राणी ! वेद की इस दशगात्रविधि द्वारा हम आपके अङ्गों को उपभोग-क्षम बनाते हैं।'

सज्जनो,

पिण्डदान की इस विधि से आप इतना तो समझ ही गये होंगे कि प्राणी के प्राणोत्क्रमण के बाद उसके निराबाध कर्मानुसारी आगे की गति पाने के लिए और प्राप्तव्य नियत स्थान पर भोग भोग सकने के लिए ही पिण्ड-दान किया जाता है। चिरकाल तक भोग से आहित संस्कारों के कारण पितरों को यह इच्छा बनी ही रहती है कि हम अब भी भोग भोगें। इसीलिए वे पुत्रों की ओर आशा लगाये रहते हैं। स्वयं उनमें वह क्षमता नहीं होती। पहले तो

भोगायतन शरीर ही नहीं रहता। उसके बनने के बाद भी सुदीर्घ-यात्रा से उनमें क्षीणता आना स्वाभाविक ही है। हम जैसे अपने उद्योग से आहारादि ग्रहण कर शरीर में आनेवाली स्वाभाविक क्षीणता पूर्ण कर लेते हैं, उनके उस शरीर में वैसा करने की सामर्थ्य ही नहीं। वे केवल सामने उपस्थित भोग ही भोग सकते हैं।

अवश्य ही प्रकृति ही उनकी यह क्षीणता दूर कर सकती है। वायुमण्डल भूतसूक्ष्मों को उस शरीर से चिपका कर उसे शक्ति दे सकता है। पर उसमें भय यह है कि यदि वायुमण्डल की मात्रा बढ़ जाय तो चन्द्रांश मन उससे आक्रान्त हो दब जायगा। फिर उनकी चन्द्राभिमुख गति रुक जायगी, जिधर उन्हें जाना है, जहाँ उनका पितृलोक है।

चन्द्र की ओर पितरों का आकर्षण तभी होगा जब कि उनमें सौम्य प्राण बढ़ेंगे। कारण, वैज्ञानिक नियम है कि सजातीय समष्टि सजातीय व्यष्टि को आकर्षित करती है। व्यवहार में हमें यह नियम अव्यभिचरित रूप में दीख पड़ता है। यदि आप मिट्टी का ढेला ऊपर उछालें तो वह पृथिवी पर ही आकर गिरेगा। पृथिवी उसका आकर्षण कर लेती है, क्योंकि सजातीय समष्टि पृथिवी की मिट्टी सजातीय व्यष्टि है। इसी प्रकार अग्नि की ज्वालाएँ सदैव ऊपर सूर्य की ओर ही जाती हैं, कभी नीचे की ओर नहीं, कारण ऊपर स्थित सूर्य अग्नि की सजातीय समष्टि है। इस तरह स्पष्ट हो गया कि यदि पितरों में वायु की मात्रा बढ़ जाय तो वे वायु की ओर ही आकृष्ट होंगे, प्रेत बनकर वायु में इधर-उधर भटकते रहेंगे, चन्द्र की ओर जा ही न पायेंगे। अतः यदि हमें पितरों को प्रेत बनने से बचाकर चन्द्र की ओर पितृलोक में पहुँचाना है तो उनके सौम्य प्राणों को बढ़ाना ही होगा।

आप पूछेंगे कि ये सौम्य प्राण क्या हैं? तो उन्हें जानने के लिए वैदिक सृष्टि-विज्ञान जानना अत्यावश्यक होगा। वेदों की मान्यता है कि सृष्टि के आरंभ में प्राणतत्त्व की उत्पत्ति हुई।[१] उसी का नामान्तर है अग्नि। आगे चलकर उसी प्राण के दो विभाग हुए : १. भृगु और २. अङ्गिरा। भृगु प्राणों का अपर नाम 'सौम्य' प्राण है तो अङ्गिरा प्राणों का नामान्तर है 'आग्नेय' प्राण। पीछे चलकर क्रमशः इन्हीं की दो सन्तानें हुईं जिनके नाम हैं : १. अन्न (भोग्य, सोम) और २. अन्नाद (भोक्ता, अग्नि)।

---

१. 'स प्राणमसृजत' (प्र० उ० ६-३)। 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० उ० २-१-३)। 'प्राण आग्नेय एव एतस्मिन्पुरे जाग्रति' (प्र० उ० ४-३)।

इसे समझने के लिए लौकिक स्थूल अग्नि का दृष्टान्त लें। जब अग्नि प्रज्वलित की जाती है तो उसके दो विभाग हो जाते हैं : १. ज्वाला और २. अंगार। 'ज्वाला' ही भृगु है, जबकि 'अंगार' अंगिरा। निरुक्त में कहा है : 'अर्चिषु भृगुः संबभूव, अङ्गारेषु अङ्गिरा।' ये ज्वालाएँ ऊपर की ओर जाती हैं, प्रकाश देती हैं। ये दाहक नहीं, शान्त हैं अतएव इन्हें 'सोम्य प्राण' कहना होगा। इसके विपरीत अंगार दाहक हैं तो उनको 'आग्नेय प्राण' कहा जायगा।

वैदिक मान्यता के अनुसार ये ही दोनों प्राण अग्नि और सोम बनकर सारा सृष्टि-चक्र चलाते हैं। आर्द्रता, मृदुता सोम्य प्राणों का परिचायक है, जब कि शुष्कता और कठोरता आग्नेय प्राणों का चिह्न। प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति अग्नि में सोम की आहुति से ही होती है। कृषि का ही उदाहरण लें :

पृथिवी में कर्षण करने, हल जोतने से उसके ऊपर का आवरण हट जाता है। उसे तीन अंगुल ही खोदा जाता है, जिससे अग्नि-संपर्क प्राप्त हो जाता है। इसी के प्रतीक रूप में यज्ञ-वेदी के निर्माणार्थ भूमि भी ३ अंगुल तक ही खोदी जाती है। कारण, तीन अंगुल के बाद अग्नि-सम्बन्ध प्रारंभ हो जाता है। भारतीय किसान वेद पढ़ा नहीं होता, फिर भी उसकी सारी क्रियाएँ वैदिक नियमानुसार ही होती हैं। यही वास्तव में भारतीय संस्कृति है जो उसकी रग-रग में परम्परागत रूप में चली आ रही है। हाँ, तो जब किसान ३ अंगुल खेत (भूमि) खोदकर उसके गर्भ में छिपी अग्नि को निरावरण कर देता है तब उस पार्थिव प्राणाग्नि में बीज रूप सोम की आहुति देता है, बीज बोता है। उसी आहुति के फल-स्वरूप अंकुर उत्पन्न होता है। यदि किसान भूमि को अधिक खोद दे तो अग्नि के स्थान पर आर्द्र सोम आ जायगा। कुआँ आदि खोदने पर स्पष्ट ही जलधारा फूट निकलती है। जल सोम का मूर्त रूप है। इसीलिए पृथिवी अधिक नहीं खोदी जाती। यदि अधिक खोदी जाय तो अग्नि में सोम की आहुति न होगी। फलतः अंकुर भी नहीं फूटेंगे।

अब जब बीज से अंकुर फूटकर बाहर आ गये, तब यदि उस पर आग्नेय प्राण सूर्य की किरणें बल पकड़ लें तो उसमें से सोम्य प्राणों का अभिभव, नाश हो जायगा और अंकुर सूख जायेंगे। इसीलिए उसे मूर्त सोम जल दिया जाता है। क्या ही भगवान् की लीला है ! उस अंकुर में जल का संपर्क होने का ही यह प्रभाव है कि आग्नेय प्राण सूर्य उसे एकदम ऊपर नहीं खींच पाते और पार्थिव आग्नेय प्राण एकदम नीचे भी नहीं खींच पाते। दोनों का आकर्षण सन्तुलित रूप में बना रहता है। हाँ, पार्थिव आग्नेय प्राणों के

सीमित आकर्षण से पृथ्वी में वृक्षों की जड़ें फैल जाती हैं, बद्धमूल हो जाती हैं तो ऊपर के आग्नेय प्राणों के आकर्षण से वह ऊपर जाने लगता है, बढ़ने लगता है। फलस्वरूप वही अंकुर पौधा, वृक्ष, शाखी, पुष्पित, फलित महा वृक्ष बन जाता है। यह सारी अग्नि सोम की ही माया है।

अन्ततः मनुष्यादि मैथुन-सृष्टि की भी उत्पत्ति योषा-रूप अग्नि में पुरुष के शुक्र-रूप सोम की आहुति से ही होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक दृष्टि के अनुसार सारा जगत् अग्नि-सोम से उत्पन्न होकर अग्निषोमात्मक ही है। इसी प्रकार जठराग्नि में भोजन-रूप सोम के होम से हमारा जीवन चलता है। भक्ष्य में पार्थिवांश अधिक होता है, सोमांश कम। इसलिए जलरूप सोममन्त्र से उसकी पूर्ति की जाती है। बार-बार जल पीना पड़ता है। लकड़ी, कोयला, तेल आदि से चलने वाले यन्त्रों में भी यही सोमाहुति की ही प्रक्रिया काम करती है।

इस तरह स्पष्ट है कि सृष्टि का सारा व्यापार अग्निषोमात्मक है। कुछ तत्त्व अग्निप्राण है तो कुछ सोमप्राण। सारे तैजस पदार्थ अग्नितत्त्व हैं। धान्य, वनस्पति आदि में भी यह अग्नि-सोमतत्त्व भाव चलता ही है। शमी-वृक्षादि और चित्रकादि वनस्पतियां अग्नितत्त्वप्रधान हैं, जब कि खस, तिल, यव, चावल, मूंग आदि अन्न सोमतत्त्वप्रधान। 'साठी' चावल तो अत्यधिक सोमतत्त्वप्रधान है। इनके सोमतत्त्व होने का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि चावल आदि के पकने में पानी लगता है, जबकि अन्य गेहूँ आदि में उतना पानी देने पर वे सड़ जाते हैं। इस सोमांश में भी सात्त्विक, राजस, तामस अंश बनाये जा सकते हैं। चावल सात्त्विक, यव राजस तो तिल तामस-सोमांश-प्रधान हैं।

पिण्डदान में ये ही यव, तिल, चावल आदि होते हैं। इतना ही नहीं, पिण्डदान के समय किया जानेवाला अवनेजन-प्रत्यवनेजन भी अर्थात् दो बार पानी देना भी सोमतत्त्व का पूरक है। अतएव इन सब के सोमतत्त्व मृत-पितरों के शरीरों में पहुँचकर उनमें सौम्य प्राण के अंशों की वृद्धि कर देते हैं। सोमतत्त्व पोषक होने से पितर उससे पुष्ट तो होते ही हैं, चन्द्र की ओर आकृष्ट होने में भी उन्हें सहायता मिलती है। कारण, चन्द्र सोमप्राण की समष्टि है। इस तरह पिण्डदान से पितर अपने नियत स्थान पर पहुँच जाते हैं। यही है पिण्डदान का वैज्ञानिक रहस्य।

एक और प्रश्न हो सकता है : मान लिया कि पितरों को पिण्डदानादि से सोमांश प्राप्त हो सकते हैं। कारण, पिण्डदान के पदार्थ और उसकी विधि

में इन्हीं तत्त्वों की पुष्टि की ओर ध्यान दिया जाता है। पर वे मृत व्यक्ति को मिल कैसे पाते हैं ? उन्हें पर तो हैं नहीं, और न कोई उठाकर पितरों को दे आनेवाला ही दीखता है। अग्नि के माध्यम से ही यह सब होता है। अग्नि ही इन्हें चन्द्र-सूर्य की किरणों तक पहुँचाती है, जो मृत व्यक्ति का आकर्षण करती हैं।

यह ज्ञातव्य है कि चन्द्र या उसकी किरणों द्वारा किसी का आकर्षण सूर्य के माध्यम से ही होगा। कारण, चन्द्र की सत्ता सूर्य पर ही निर्भर है। अग्नि में श्राद्धकर्ता द्वारा दुग्ध, दधि आदि का प्रक्षेप करने पर वे अपना स्थूल भाव खोकर द्रव-द्रव्य के रूप में परिणत हो जाते हैं। तब उनका नाम 'आपः' या 'श्रद्धा' हो जाता है। इन्हीं 'आपः' या 'श्रद्धा' को सूर्य-किरणें ऊपर ले जाती और चन्द्रकिरणों के माध्यम से मृत-पितरों तक पहुँचा उनका दिव्य शरीर बना देती हैं। अग्नि से सूर्य-किरणों का सम्बन्ध इसलिए जुड़ता है कि सूर्य समष्टि आग्नेय प्राण हैं, जब कि अग्नि व्यक्ति आग्नेय प्राण, जैसा कि शतपथ (२-२-२-१८) में कहा है : 'ते वा एते प्राणा एव यदग्नयः।' 'सजातीय समष्टि सजातीय व्यष्टि का आकर्षण करती है' यह नियम आप जानते ही हैं। इस तरह अग्नि के माध्यम से इन सोम्य पदार्थों का पितरों तक पहुँचना सुस्पष्ट हो जाता है। जो यजमान अपने जीवन में अग्नि का आधान करने से उसका पिता बना था, वही यजमान की परलोक-यात्रा के समय—इन सोम्य वस्तुओं के प्रापण द्वारा दिव्य शरीर धारण करवाकर उसका पिता बन जाता है। शतपथ और ऋग्वेद के वचन इसी का संकेत करते हैं : 'पुत्रो ह्येष स पुनः पिता भवति' (शतपथ २-३-३-६); 'पुत्रासो यत्र पितरो' (ऋग्वेद १-७९-९)।

कोई पूछ सकता है कि पिण्ड तो अग्नि में डाला नहीं जाता, दर्भ पर दिया जाता है। तब उसका सोम्यांश कैसे पहुँचेगा ? उन्हें जानना चाहिए कि दर्भ भी आग्नेय प्राण ही हैं। अतः उस पर पिण्डदान अग्नि में सोम की आहुतिवत् हो जाता है। अब कोई शंका नहीं रही और पिण्डदान से पितरों की कैसे तृप्ति होती है, यह बहुशः स्पष्ट हो गया।

अब संक्षेप में श्राद्ध के प्रमुख चार अंगों पर विहंगम दृष्टि डाल यह व्याख्यान पूरा किया जायगा, कारण, बहुत विस्तार हो गया।

---

१. यहाँ बहुवचन का प्रयोग अनेक यजमान और अनेक अग्नि के अभिप्राय से है।

श्राद्ध के मुख्य चार अंग हैं : १. होम, २. पिण्डदान, ३. तर्पण और ४. ब्राह्मण-भोजन । अग्नि में होम और दर्भ पर पिण्डदान पितरों को सोम्य प्राणतत्त्व पहुँचाने की विधियाँ हैं, यह तो आप समझ ही गये होंगे। वेद भी इनकी श्राद्धाङ्गता बताता है :

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि स बिभर्ति पितरं पितामहान् ।

(अथर्व० १८-४-३५)

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन,
सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।
अपः प्रविशत प्रतिगृह्णातु वश्चरु,
इमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥

(अथर्व० ११-१-१८)

अर्थात् 'मैं अग्नि में जो इस हवि का होम कर रहा हूँ, वह मेरे पिता, पितामह आदि का पोषण करता है।' 'हे दिवंगत प्राणी ! हमारे इस पिण्ड-रूप चरु को स्वीकार करें और इसके परिपाक से पुण्यात्माओं के लोक में पधारें। आपको दिया जानेवाला यह पिण्डरूप चरु वेद-मन्त्रों द्वारा शुद्ध किया गया है और घृत आदि पदार्थों के सम्मिश्रण से पावन, मधुर बनाया गया है। जिनमें प्रचुर-मात्रा में सोम्यांश भरा है, पितृयज्ञ-सम्बन्धी उन चावलों से यह पिण्ड-रूप हवि निर्मित है। इतना ही नहीं, यह अवनेजन एवं प्रत्यवनेजन आदि श्राद्धीय क्रियाओं द्वारा जल से भी प्रविष्ट किया गया है, जल से आर्द्र किया गया है।

तर्पण में तिल और जल ही प्रधान होते हैं। ये दोनों भी सोम्य प्राण-तत्त्व हैं। इनसे भी पितरों को चन्द्रलोक की ओर जाने में सहायता मिलती है। वेद भी तर्पण का श्राद्ध के अङ्ग रूप में विधान करता है :

एतास्त्वा धाराः उपयन्तु विश्वाः,
स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः ।

(अथर्व० ४-३४-७)

अर्थात् 'तर्पण में दी हुई हमारी ये समस्त जल-धाराएँ आपको प्राप्त हों और स्वर्ग में मधुर बनकर आपको प्रसन्न करें।'

जहाँ किसी कारणवश हवन संभव न हो, वहाँ अन्ततः श्राद्ध की समाप्ति तक अखण्ड दीप रखने की प्रथा है, जो अग्नि का ही प्रतीक है। वैसी स्थिति

में वही दीपक श्राद्धीय वस्तुओं के सोम्य प्राणांशों को पितरों तक पहुँचाने का माध्यम बनता है।

श्राद्ध का चौथा अंग ब्राह्मण-भोजन है। आज के कुछ लोगों को कभी-कभी यह खटकता है और वे यह भी कहने का दुस्साहस करते हैं कि क्या इसमें भी वेद प्रमाण हैं? क्यों नहीं! अवश्य हैं, सुनिये :

इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु
विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।

(अथर्व० ४-३४-८)

अर्थात् 'मैं ओदन (भात) से उपलक्षित भोज्य पदार्थ मैं ब्राह्मणों के बीच स्थापित करता हूँ, उन्हें खिलाता हूँ, जो विस्तार पाकर लोक-लोकान्तर को जीतते हुए स्वर्ग जाते हैं। अब तो शंका का समाधान हो गया?

सच पूछें तो श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन ही एक प्रमुख विधि है, जिससे श्राद्ध का, पितृयज्ञ का देवयज्ञ से स्वतन्त्र अस्तित्व एवं वैशिष्ट्य बन पाता है, अन्यथा पितृयज्ञ में ब्राह्मण-भोजन के स्थान पर देवयज्ञ की तरह होम का ही प्राधान्य होता तो दोनों में कोई अन्तर ही न रह जाता। यही कारण है कि परिस्थिति-विशेष में जहाँ श्राद्ध में होम नहीं हो पाता वहाँ के लिए आचार्यों ने श्राद्ध-काल तक प्रज्वलित अखण्ड दीपक को अग्नि के विकल्प में मान लिया है। शास्त्रज्ञ जानते हैं कि प्रधान में कभी विकल्प नहीं होता। अतः श्राद्ध के स्वरूपरक्षार्थ ब्राह्मण को खिलाना अनिवार्य है।

अब पूछा जा सकता है कि श्राद्ध में अग्निहोम को गौण बनाकर ब्राह्मण-भोजन को इतना प्राधान्य देंगे तो अग्नि के अभाव में दिया हुआ कव्यादि पितरों तक कैसे पहुँच पायेगा? किसी भी वस्तु को देव या पितरों तक पहुँचाने का माध्यम आपने अग्नि को ही तो माना है? इस पर कहना होगा—ब्राह्मण द्वारा ही। वेदों में बहुधा वर्णित है कि सृष्टि के समय ब्राह्मण, अग्नि और गायत्री-छन्द तीनों प्रजापति के मुख से प्रादुर्भूत हुए। इस प्रकार अग्नि के सहोदर ब्राह्मण भी अग्निस्वभाव ही हैं। अतः अग्नि की तरह ब्राह्मणों के माध्यम से भी भोजन-रूप में उपस्थापित पायसादि वस्तुओं के सार सोम्य प्राणपुंजों के पितरों तक पहुँच जाने में किसी प्रकार की बाधा नहीं। इसके अतिरिक्त वेदविद् ब्राह्मण गायत्री आदि अपने वैदिक मन्त्रों की दिव्य शक्ति का भी पितरों तक श्राद्ध-द्रव्यों के सोम्य प्राण-पुंजों के पहुँचाने में उपयोग कर ही सकता है।

अतः प्रमाणित हुआ कि विधिवत् प्रत्यक्ष अग्नि में या ब्राह्मण की जाठराग्नि में होम करने में कोई अन्तर नहीं। विनोद की भाषा में त्यागी, संयमा और लक्ष्मी-सपत्नी सरस्वती के वरद पुत्र ब्राह्मण की जाठराग्नि सामान्यतः विषय-लोलुप, असंयमी, सम्पन्न लोगों की अपेक्षा प्रचण्ड, प्रदीप्त रहती है। फिर वह पितरों तक पुत्रादि-प्रदत्त श्राद्ध के पहुँचाने का क्यों न माध्यम बने ?

ज्ञातव्य है कि ब्राह्मणों को जो खिला दिया जाता है या अग्नि में जो होम दिया जाता है उसका स्थूल-भाग तो पितरों को मिलता ही नहीं, उसका 'आपः' या 'श्रद्धा' रूप सूक्ष्म सार ही उन्हें मिलता है। तब विधिवत् ब्राह्मणों के मुख में भी श्राद्ध का होम करने पर पितरों को उसके मिलने में बाधा ही नहीं। इस तरह पिण्डदानादि से पितरों की तृप्ति कैसे होती है, इसका पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाता है।

सज्जनो,

हमें विश्वास है कि इन व्याख्यानों से आप लोग भली-भाँति समझ गये होंगे कि हिरण्मयी प्रोज्ज्वला अमर भारतीय संस्कृति में पितृतत्त्व का क्या स्थान है और वह कितना व्यापक, कितना दूरदर्शितापूर्ण एवं कितना युक्ति-युक्त है ! हम यदि इन नित्य-नैमित्तिक पितरों से सश्रद्ध सुदृढ सम्पर्क स्थापित कर लें तो इहलोक की तरह परलोक-स्थिति में भी उनकी छत्रच्छाया में निश्चय ही सुखपूर्वक जीवन-यापन कर सकते हैं।

[२४ तथा २५ अक्तूबर, १९३९]





